पुनर्नवा और लोकजीवन

(एम० फिल० उपाधि के लिए प्रस्तुत लघु-शोध प्रबन्ध)

सुरेन्द्र प्रताप यादव

भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली-११००६७

१९८६

भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

नया महरौली मार्ग
नई दिल्ली 110067

दिनांक - २५.११-८६

प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि श्री सुरेन्द्र प्रताप यादव द्वारा प्रस्तुत "पुनर्नवा और लोकजीवन" शीर्षक लघु शोध-प्रबन्ध में प्रयुक्त सामग्री का इस विश्वविद्यालय अथवा अन्य विश्वविद्यालय में इसके पूर्व किसी भी प्रदेय उपाधि के लिए उपयोग नहीं किया गया है। यह सर्वथा मौलिक है।

अध्यक्ष
भारतीय भाषा केन्द्र
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली - 110067

(डॉ० बी०एम० चिन्तामणि)
निर्देशक
भारतीय भाषा केन्द्र
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली - 110067

प्राक्कथन

पुनर्नवा लोकसांस्कृतिक कलेवर में सजा-धजा आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का तीसरा उपन्यास है । इसका विश्लेषण करने पर हमें यह ज्ञात होता है कि पुनर्नवा के माध्यम से आचार्य द्विवेदी ने लोकजीवन का बहुआयामी चित्र प्रस्तुत किया है । लोकजीवन की विभिन्न समस्याओं का विश्लेषण करते हुए समाधान भी प्रस्तुत करने का प्रयास किया है । इसके अध्ययनोपरान्त इस उक्ति के प्रति दृढ़ विश्वास हो जाता है कि "उपन्यासों में लोकसंस्कृति जीवित रहती है तथा वह हर युग के मनुष्य को प्रेरणा और प्रोत्साहन देती रहती है ।" यही कारण है कि पुनर्नवा अतीतजीवी होकर भी लोकजीवन के वर्तमान और भविष्य के लिए प्रेरणादायी और मार्गदर्शक है । पुनर्नवा ही नहीं "द्विवेदी जी का साहित्य, विशेष रूप से उनका कथा साहित्य लोकजीवन की भावभूमि पर प्रवाहित रस धारा से ओतप्रोत होता है । यह रस धारा ही क्रमशः पुंजीभूत होती हुई अतल गहराइयों का रूप धारण कर लेती है ।"

पुनर्नवा की कथा में "लोरिकायन" गाथा जो वस्तुतः पूर्वी उत्तर-प्रदेश, पश्चिमी बिहार और मध्यप्रदेश के छत्तीसगढ़ में प्रचलित है, का स्पष्ट प्रतिफलन है । आचार्य द्विवेदी ने लोरिकायन के लोरिक को रेभिल-भीमा-श्रुतिधर प्रसंग में गोपाल आर्यक ग्वालारिक ल्वारिक और लोरिक की उत्पति दिखाई है, जो लोकजनों में बहुप्रचलित है । लोकगाथा की "हरदी" के आधार पर हलधीष का पुनर्निर्माण किया गया है और लोरिक चन्दा को अहीर जाति के रूप में ही चित्रित किया गया है । चन्दा की पति द्वारा प्रताड़ना, आर्य के साथ उसका भागना, अनेक संघर्षों के बाद अन्ततः चन्दा का अपने प्रेम में होना आदि प्रसंगों के आधार सूत्र लोरिकायन से ही लिए गये है । लोरि

की ही भांति पुनर्नवा में भी मंजरी लोरिक की प्रेमिका और पत्नी उल्लिखित हुई है । आर्यक के पौरुष एवं वीरता का श्रोत भी लोरिकायन में प्राप्त है । आर्यक का बड़ा भाई श्यामरूप (संवरु) भी लोरिकायन के अनुरूप ही है । पुनर्नवा में हम देखते है कि लोक में मृणाल मंजरी से सम्बन्धित किंवदन्तियाँ प्रचलित है । इस ब्रज क्षेत्र में प्रचलित किंवदन्ती का उपयोग पुनर्नवा में किया गया है । ब्रज के ग्रामीण क्षेत्रों में मंजरी को आज भी देवी का अवतार माना जाता है ।

खान-पान, रहन-सहन, वेष-भूषा, शिष्टाचार, सम्बोधन, पर्व-उत्सव आदि के विवेचन में लोकजीवन बहुत उभरकर हमारे सामने आता है । परम्परागत आतिथ्यभावना में अन्तर्निहित लोकतत्व को गहराई से चित्रित किया गया है । आदिवासी बच्चों के चित्रण में प्रकृति के लौकिक परिपार्श्व में रहन-सहन एवं लोकजीवन की अभिव्यक्ति बड़े सुन्दर ढंग से हुई है । शिष्टाचार सम्बोधन आदि लोकजीवन का बहुत महत्वपूर्ण पक्ष है । देवरात, चण्डसेन, श्रुतिधर, मथुरा के वृद्ध ब्राहमण आदि पात्र "आर्य" सम्बोधन से सम्मानित हैं और धर्म-शास्त्रज्ञ पुरगोभिल "आचार्य" एवं "आचार्यपाद सम्बोधन से । सुमेर काका, माढ़व्य शर्मा सभी के काका, दादा है । लोकजीवन में ऐसे सदाबहार काका, दादा आज भी विद्यमान है । लोकजीवन के इस जीवन्त सम्बन्ध को सुमेर काका एवं माढ़व्य दादा चरितार्थ कर देते है । ये सभी सम्बन्ध लोक-जीवन के अनुरूप ही पुनर्नवा में भी सामाजिक प्रतिष्ठा, कुल, आयु के एवं व्यक्तिगत सम्बन्धों पर आधारित है ।

लोकजीवन के अनुरूप ही इस उपन्यास में कुल, पद, आयु तथा प्रतिष्ठा के अनुरूप अभिवादन भी चित्रित है । हाथ जोड़कर प्रणाम निवेदन, श्रद्धावश दण्डवत प्रणाम, माथा टिकाना जय बोलना आदि लोक अभिवादन प्रथा के अनुरूप है । स्त्रियों के लिए भी कुछ निश्चित सम्बोधन है जिनके माध्यम से उनके प्रति लोक शिष्टाचार व्यक्त होता है । वृद्धा महिलाएं माता सम्बोधन

से समावृत है । उम्र के अनुसार स्त्रियां परस्पर सखी, दीदी, और प्यारी बहन के रूप में सामने आती है । कुल बधुएं लोकप्रथानुसार उम्र में छोटे पुरूषों द्वारा भाभी कही जाती है ।

पुनर्नवा में जो लोक चेतना का सबसे प्रबल एवं व्यापक रूप उभरा है और जो वस्तुत: पुनर्नवा की चेतना का केन्द्र है, वह है - नारी-पुरूष सम्बन्ध । पुरूष के निकट नारी गणिका, प्रेमिका, विवाहिता, कुल-बधू के रूपों में चित्रित हुई है । इससे अतिरिक्त भारतीय लोकजीवन के अन्य सहज सम्बन्ध जैसे - पिता-पुत्री, देवर-भाभी, आदि के सम्बन्ध बड़े ही स्वाभाविक रूप में चित्रित हुए है । इनके बीच का प्रेम भी अत्यन्त सहज और लौकिक है । मृणाल आर्यक का साहचर्यजनित प्रेम, मांदी शार्विलक के प्रथम दृष्टिपात का प्रेम, मंजुला-देवरात का भाउक प्रेम लौकिक रूप में ही उभरकर आया है । जो लोक की तमाम रूढ़िगत मान्यताओं को तोड़ता भी है ।

इस प्रकार पुनर्नवा में लौकिक कथानक, पात्र, वातावरण और घटनाओं के तथ्य मांसल तथा रसमय बनकर आये है । साथ ही लोक सम्बन्धी आचार्य द्विवेदी की अवधारणा इसमें प्रतिफलित हुई है । पुनर्नवा में आचार्य द्विवेदी ने लोकजीवन की व्याख्या प्रधानत: परम्परागत दृष्टिकोण से ही की है । यही कारण है कि पुनर्नवा, संघर्षशील, जीवन्त मानव के विकास की वह जीवन कथा है जो नव-नव घटनाओं एवं परिस्थितियों के भीतर से मनुष्य की विजय यात्रा का चित्र प्रस्तुत करती है । उसका सत्य सर्वकालिक सत्य है ।

लोकतात्विक उपन्यास में आचार-विचार, खान-पान, रहन-सहन, वस्त्र-आभूषण की तरह लौकिक वातावरण की सृष्टि करने में भाषा का भी योगदान होता है । आचार्य द्विवेदी ने देशकाल वातावरण एवं पात्र के अनुरूप भाषा का भी प्रयोग किया है । चौथी शताब्दी की कहानी को इस उपन्यास का आधार बनाया गया है । उस समय राजभाषा संस्कृत होने के नाते पढ़े-लिखे लोगों की भी भाषा थी । लोकजीवन में लोकभाषा का आविर्भाव भी हो रहा

था । यही लोकभाषा ही प्राकृत कहलाई जिसके काफी शब्द और छन्द हमें पुनर्नवा में प्राप्त होते है । इसके अतिरिक्त लोकजीवन में बहु-प्रचलित और उनकी बोली बानी में घुल-मिल गए अरबी-फारसी के भी शब्दों का प्रयोग हुआ है । अवधी, भोजपुरी तथा ब्रज क्षेत्रों में प्रचलित देशज शब्दों एवं कहावतें भाषा को लौकिक स्वरूप देते हुए अत्यन्त सरस बना देती है ।

पुनर्नवा में निहित लोकसंस्कृति के सहज, सरल और अकृत्रिम सौन्दर्य ने मुझे यह प्रबन्ध लिखने से पूर्व ही अपनी ओर आकर्षित किया। कथ्य और शिल्प की दृष्टि से लौकिक होते एवं अपनी सम्प्रेषणीयता के कारण यह उपन्यास अन्य सामान्य उपन्यासों की अपेक्षा हृदय को कहीं अधिक गहराई से स्पर्श करता है । हमें अपनी प्रगतिशील लौकिकता का बोध कराता है । प्रस्तुत प्रवन्ध में चार अध्यायों के अन्तर्गत पुनर्नवा को इसी चेतना के प्रकाश में देखने का मौलिक प्रयास किया गया है ।

प्रथम अध्याय में उपन्यास में उपन्यास और लोकजीवन पर विचार करते हुए पुनर्नवा और लोकसांस्कृतिक चेतना पर विचार किया गया है । दूसरे अध्याय में उपन्यास की कथा के लौकिक श्रोतों के विश्लेषण के साथ-साथ घटना योजना में लोकतत्वों की स्थिति का विवेचन किया गया है । तीसरे अध्याय "पुनर्नवा के पात्रों में लोकतात्विक चेतना एवं प्रतिनिधित्व" के अन्तर्गत यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि पुनर्नवा के पात्रों में लौकिक चेतना किस हद तक काम करती है । चौथे अध्याय में देशकाल एवं वातावरण योजना में निहित लोकतत्वों का विश्लेषण किया गया है । पांचवा अध्याय उपन्यास के कथोपकथन एवं भाषा शैली में लोकरंगों का उल्लेख किया गया है ।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध लोकसाहित्य, लोकसंस्कृति के अपार प्रेमी स्वर्गीय पिताजी के व्यक्तित्व, प्रेरक विचारों, प्रोत्साहन एवं आशीर्वाद का प्रतिफल है । गुरुवर नामवर सिंह ने मुझे विषय निर्वाचन से लेकर मूल्यांकन तक

निरंतर सुझाव दिया है, उनका विशेष रूप से आभारी हूँ । मेरे निदेशक डॉ० बी०एम० चिन्तामणि ने पग-पग पर मेरा मार्गदर्शन किया है, उनके प्रति नतमस्तक हूँ । मुझे इस स्थिति तक पहुँचाने एवं इस योग्य बनाने का सारा श्रेय डॉ० रामसागर सिंह एवं पिता तुल्य भाई श्री श्यामा प्रसाद यादव को जाता है, इनसे उऋण नहीं हुआ जा सकता । हर प्रकार की सहायता करने के लिए सहपाठिनी प्रेमकुमारी सिंह एवं मित्रों रामनरेश सिंह यादव रामबदन दूबे, शम्भूनाथ सिंह एवं मेदिनी प्रसाद के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ ।

२५-११-८६

सुरेन्द्र प्रताप यादव

— सुरेन्द्र प्रताप यादव

अनुक्रम

क्र0सं0		पृष्ठ संख्या
1.	उपन्यास और लोकजीवन एवं पुनर्नवा की लोकसांस्कृतिक चेतना ...	1 - 41
2.	पुनर्नवा के कथातत्व एवं घटना योजना में लोकतत्वों की स्थिति ...	42 - 68
3.	पुनर्नवा के पात्रों में लोकतात्विक चेतना	69 - 95
4.	वातावरण एवं देशकाल में लोकतत्वों की स्थिति	96 - 122
5.	कथोपकथन एवं भाषा शैली में लोकरंग	123 - 148
	उपसंहार ...	149 - 160
	सहायक ग्रन्थों की सूची	161 - 165

****

अध्याय - I

उपन्यास और लोकजीवन एवं पुनर्नवा की लोकसांस्कृतिक चेतना

(क) उपन्यास और लोकजीवन

उपन्यास लोकजीवन के कोने-कोने में झाँकने की सहज प्रवृत्ति एवं क्षमता रखता है। हमारे प्राचीन काव्यकारों ने अपने कृति रूपी चित्र फलक पर अखिल लोकजीवन को उकेरने का महान प्रयास किया है ; फिर भी वे अपनी सारी लोकानुभूति को अपनी कृतियों में उतार नहीं पाये, क्योंकि उनके सामने छन्दोबद्धता, गति एवं यति, शास्त्रीय-अभिव्यंजना एवं भाषा की सीमाएं थीं। जहाँ तक रंगमंच की बात रही, तो उसपर कितने ही लोकव्यापार इसलिए निषिद्ध हैं कि उसमें बहुसंख्यक लोक समुदाय को साक्षात्-प्रदर्शित करने में, मंच की संकीर्ण सीमाएं सदा ही रुकावट रही है। जब कभी भी नाटक में लोक-समुदाय की उपस्थिति सूचित करनी होती है अथवा वातावरण की सृष्टि करनी होती है तो उसमें नेपथ्य आदि कृत्रिम उपायों एवं साधनों का उपयोग करना पड़ता है। उपन्यासकार के मार्ग में ऐसी कोई बाधा नहीं होती। यही कारण है कि उपन्यास में समग्र जनजीवन को समा लेने की अपार क्षमता होती है। अत: लोक-मानस की झाँकियां उसमें पूर्णत: प्रतिच्छायित होती है।

उपन्यास न सर्वथा अभिनव कथाकृति ही है और न वह मात्र कल्पना की ही वस्तु है। अपने देशकाल की परिस्थितियों को अपने में समेटकर वह नवीन परिधान अवश्य धारण करता है किन्तु उसकी थाती या धरोहर, परम्परा की, युगों की वह कथा समृद्धि है जिसने कि मानव जाति के भौतिक दैविक एवं अधिदैविक ताप-संतापों को सहन करने की क्षमता दी है। यह बात सही है कि

उपन्यास कल्पना का आधार लेकर चलता है, किन्तु वह कल्पना केवल बालसुलभ विस्मय ही है । ऐसा विस्मय जो उपन्यासकार के मानस में इस चित्र-विचित्र जगत की एवं लोकमानस की सतरंगिणी लहरों की निरंतर क्रीड़ा को देखकर उदित होता है । इस प्रकार उपन्यास सत्य ही नहीं शाश्वत सत्य के शब्दचित्र और भावचित्र उपस्थित करता है । बनावटी या "फिक्टीशस" नहीं है ।

"लोकवार्ताओं" और उपन्यास दोनों का लोकमानस से बहुत घनिष्ट सम्बन्ध है । लोकवार्ताओं की भाँति ही उपन्यास भी एक सहज, सरल, लोकरंजक विधा रहा । लेकिन ज्यों-ज्यों उपन्यास में अपने प्राकृत लोकवार्ता उत्स से दूर हटने एवं विमुख होने की प्रवृत्तियां पनपने लगीं, उपन्यास के कृत्रिम मानों को प्रश्रय मिलने लगा । अठारहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध अंग्रेजी उपन्यास साहित्य के प्रथम उत्थान का काल था । तब तक उपन्यास विधा का पर्याप्त विकास हो चुका था । उस समय आलोचिका क्लेरा रीव स्वयं उपन्यास लेखिका थीं किन्तु इससे अधिक श्रेय उन्हें इस बात का है कि उन्होंने उपन्यास तत्व की उदार और सहज प्रकृति को स्वीकार किया है । जिसका आधार लोकजीवन है और जिसकी सफलता उसके वास्तविक एवं संवेदनशील चित्रण में है :-

"उपन्यास वास्तविक लोकजीवन एवं लोक व्यवहारों का एक वास्तविक चित्र है, और उसमें, उस काल का भी प्रतिबिम्ब पाया जाता है, जिसमें कि वह लिखा जाता है । इसके विपरीत रोमांस या मात्र कल्पना की रोमानी कृतियां एक ऐसे जीवन का वर्णन करती है जो कभी नहीं रहा और न कभी रहेगा ही । वे शानदार और ऊँची भाषा का प्रयोग करते हैं किन्तु उपन्यास ऐसी बातों के साथ हमारे चिर-परिचित सम्बन्ध का ध्यान रखता है जो कि हमारी आँखों के सामने हर दिन गुजरती रहती है और जो कि हमारे मित्र के अथवा हमारे अपने जीवन में कभी भी घट सकती है । और उपन्यास की सम्पूर्णता इस बात में है कि वह हर दृश्य को ऐसे सरल और सहज रूप में प्रस्तुत करे कि वह हमें इतना सम्भावित जान पड़े कि हम यह मानने को एकदम तैयार हो जायें कि वह समग्र वर्णन सच्चा है । इससे हम कहानी के पात्रों के हर्ष और विषाद से इस भाँति अभीभूत हो जाते हैं

मानों वे हमारे अपने ही सुख-दुख हों ।"[1]

इस सम्बन्ध में राल्फ फॉक्स की भी उक्ति ध्यान देने योग्य है कि मनुष्य के जीवन को सर्वांगीण रूप में जितना उपन्यास चित्रित कर सकता है उतना साहित्य का दूसरा अंग नहीं कर सकता :-

"उपन्यास का पलड़ा इस मामले में सदा भारी रहेगा कि वह मानव का कहीं अधिक पूर्ण चित्र प्रस्तुत कर सकता है तथा उस महत्वपूर्ण आन्तरिक जीवन की झांकी दिखा सकता है जो कि मानव के निरे क्रियाशील रूप से भिन्न होती है ।"[2]

हिन्दी उपन्यास का प्रारम्भ हम "सैयद इंशाअल्ला खां" रचित "रानी केतकी की कहानी" से मानते हैं जो सन् 1801 में रची गयी । यद्यपि इंशा की कृति भारतीय उपन्यास साहित्य में प्रथम और पथ-प्रदर्शक रचना मानी जाती है किन्तु आधुनिक हिन्दी उपन्यास के विकास से पूर्व अन्य देशों में एवं अन्य भाषाओं में उपन्यास का उद्‌भव एवं विकास हो चुका था । ग्यारहवीं शती में सर्वप्रथम रचित जापानी "गेंजी मोनोगातारी" मनोरम, लोकविश्वासों से ओतप्रोत औपन्यासिक कृति न केवल लोक-कथाओं के कथारूपों एवं कथारूपों एवं कथातंतुओं से विन्यासीकृत हुई है अपितु उसकी कहानी कहने की शैली भी एकदम कहानी कहे जाने जैसी ही बन पड़ी है ।

विश्व उपन्यास में अंग्रेजी उपन्यास साहित्य की प्रतिष्ठा सर्वमान्य है । आंग्ल उपन्यास साहित्य के प्रथम चार पुरस्कर्ताओं सैमुअल जानसन, हेनरी फीलिंडग, जार्ज स्मालेट, लारेंस स्टर्न सभी का रचनाकाल अठारहवीं शताब्दी है । ये सभी उपन्यासकार लोकवार्तापरक उपन्यास लेखन में प्रस्तुत हुए थे उनमें भी हेनरी फीलिंडग के उपन्यासों में लोक-कथाओं जैसे कथानक एवं जन-जीवन की मार्मिक एवं

---

1. क्लैरा रीव - प्रोग्रेस ऑफ रोमांस, पृ. 102-103.
2. राल्फ फॉक्स - उपन्यास और लोकजीवन, पृ.- 32.

अकृत्रिम झांकियां पायी जाती हैं । मैथ्यू लूईस (1775-1818) के लघु उपन्यास "मॉंड" की लोकप्रियता रोमांचक लोककहानी होने के कारण पर्याप्त रही थी । इस लघु उपन्यास की कहानी भूत-प्रेतों एवं अति मानवीय तत्वों से ओत-प्रोत है । "इस प्रकार आंग्ल उपन्यासों की परम्परा का अनुशीलन करने पर हमें यह ज्ञात होता है कि भारत से सुदूर भू-भागों में बसने वाले जन साधारण किस भांति लोकविश्वासों से ओतप्रोत मुक्त कल्पना की उन मनोरंजग अभिव्यंजनाओं को बेहद पसन्द करते हैं जिनमें कि युगों से चली आने वाली परियों, भूत-प्रेतों, जादू-टोनों चमत्कारिक सिद्धियों के माध्यम से उनके विशुद्ध मनोरंजन की सिद्धि होती है ।"[1]

लेखक जब अपने उपन्यास में लोकजीवन का चित्रण करता है तो उसकी यथार्थता को स्वाभाविक ढंग से प्रस्तुत करने के लिए उसके निवासियों की मान्यताओं, प्रथाओं, अन्धविश्वासों, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक जीवन की बहुविध झांकियां प्रस्तुत करता है । अपनी इस प्रस्तुति को वह मार्मिक एवं प्रभावी बनाने के लिए उसकी एकान्त विशेषताओं से युक्त प्रचलित उक्तियों को इस प्रकार सजाता है कि उसकी कृति लोक के रंगों से परिपूर्ण हो जाती है । वह वहाँ के लोक जीवन में तात्त्विक दृष्टि से विद्यमान लोकवार्ता के विभिन्न विषयों को प्रस्तुत करता है । जिन विषयों के कारण लोकजीवन की सही चित्रावली प्रस्तुत होती है वे विषय अधिकांश में लोकवार्ता के ही विषय हैं । इन्हीं विषयों के चित्रण तथा वर्णन द्वारा उपन्यास के तत्वों पर लोक जीवन का रंग चढ़ता है । स्थानीय बोली के प्रयोग द्वारा लोकवार्तागत अभिव्यक्तियों के द्वारा जो उस लोक में प्रचलित होता है लेखक लोक की सजीव झांकी पेश करता है । लोकजीवन में प्रचलित लोकगीतों के माध्यम से लेखक उसकी मूल चेतना के रूप में आदिमकालीन जीवन विधान का बोध कराता है । इसी प्रकार वहीं की प्रचलित लोककथाओं, लोकनृत्य और लोकनाट्य, रीति-रिवाजों, पर्वों, उत्सवों, तंत्र-मंत्र, अंधविश्वास तथा लोक चित्रों के द्वारा लोकजीवन के यथार्थ को सहजतापूर्वक उभारता है । ये सारी विशेषताएं मूलत: लोकवार्ता के ही विषय हैं । अत: लोक की मौलिक चेतना और सत्ता को उद्घाटित करने के लिए लोकवार्ता तत्वों की पहचान आवश्यक है । विभिन्न क्षेत्रों की लोकतात्त्विक भिन्नता उनकी अपनी मौलिकता तथा

---

1. डॉ0 इंदिरा जोशी - हिन्दी उपन्यासों में लोकतत्व, पृ. 25

विशिष्टताओं को द्योतित करती है । क्योंकि लोकवार्ता मौखिक परम्परा में प्राप्त लोक की वह वार्ता है जिसकी रचना स्थानीय बोली में हुआ करती है । जो शास्त्रीय नियमों में बद्ध न होते हुए भी अपने कुछ नियमों को लेकर चलती है । लोकवार्ता क्या है ? इसमें आदिम जातियों की ग्रामीण एवं साधारण नागरिक जीवन की सांस्कृतिक झांकी मिलती है । तथा आलेखित रूप में ही इसकी गतिशीलता बनी रहती है ।

लोकजीवन स्थिर नहीं होता है । गतिशीलता उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति एवं प्रकृति है । परिवर्तन के विविध आयामों से होकर गुजरता हुआ लोकजीवन अपने जीवित संस्कारों के कारण प्राण सम्पन्न दिखाई देता है । उपन्यासकार उसके यथार्थ की झांकी प्रस्तुत करने के लिए वहाँ की बदलती हुई विविध स्थितियों को चित्रित करता है । चूँकि लोकजीवन समय और परिस्थितियों के अनुसार बदलता रहता है, इसलिए अनेक प्रकार के उतार-चढ़ाव की सरल तथा जटिल प्रतिक्रिया का प्रभाव उसे सहन करना पड़ता है । उपन्यासकार उससे निकटतम् रूप में सम्बन्धित होने के कारण उसकी सारी अनुभूतियों से भी संबद्ध होता है । यही कारण है कि परिवर्तित परिस्थिति के प्रभावश लोकजीवन में उत्पन्न बदलाव को वह अपनी औपन्यासिक वृत्ति में चित्रित करता है ।

मनुष्य के जीवन में घटनाओं का चक्र हमेशा चलता रहता है । परिवर्तन का अस्तित्व गतिशीलता के मूल में शाश्वत रूप में विद्यमान रहता है । घटनाओं के प्रभाव से जुड़ा हुआ मनुष्य आवश्यकता के अनुसार स्वयं अपने में भी परिवर्तन और संशोधन करता है । वस्तुत: यह जीवन पर्वत के गोंद से जन्म लेने वाली सरिता के जल-प्रवाह की तरह होता है । जो कभी आगे बढ़ता है, कभी आगे बढ़ने के क्रम में रूकता भी है । कभी-कभी भिन्न-भिन्न तरह के उतार-चढ़ाव भी आते हैं किन्तु उसका प्रवाह स्थिर नहीं होता । वह हमेशा गति और स्पन्दन से युक्त रहता है । उपन्यास में लोकजीवन की इस समग्रता का व्यापक निरूपण होता है । उपन्यास के सीमित क्षेत्र के अन्दर लेखक लोकजीवन की गतिशीलता को चित्रित करता है । लोकजीवन की गतिशीलता का यही सन्दर्भ उपन्यास को लोकतत्वों से समृद्ध बनाता है । मूलत: यह "उपन्यास जीवन की उपासना है, इसमें हम जीवन के साथ तादात्म स्थापित करते है । एक सफल उपन्यास को जीवन का भाष्य कहा

जाना चाहिए । उपन्यास दौड़ते हुए जीवन को पकड़ता है । वह सिनेमाटोग्राफ की तरह हमारे सामने आता है और गत जीवन को देखने वाली एक आंख बन जाता है ।"[1] वस्तुत: इस उपन्यास रूपी आंख के द्वारा जीवन की वास्तविकता को आसानी से देखा जाता है । वह सदैव गतिशील जीवन के यथार्थ को प्रस्तुत करता है । किन्तु यह गतिशील जीवन लोक का होता है । "गतिशीलता का तात्पर्य कार्य की गति मानना से है । उसके लिए प्रयत्नशील रहना, वर्तमान को सुखद भविष्य में परिवर्तित करने का प्रयास कार्य अर्थात् गतिशीलता, इसी प्रकार की कार्यरत प्रवृत्ति लोकजीवन में हुआ करती है ।"[2]

लोकजीवन से जुड़े हुए उपन्यासों के कथावस्तु में प्रयुक्त लोकजीवन के यथार्थ घटना चक्रों द्वारा हम आज भी अतीत के जन-जीवन को स्पष्ट रूप में देख सकते हैं । (उपन्यासकार वहाँ के जीवन में प्रचलित लोक-गाथाओं, लोक-कथाओं, धर्म, रीति-रिवाज, खान-पान आदि के सजीव वर्णन के द्वारा उस परिवेश के सहज चित्र, एवं वृत्त को प्रस्तुत करता है । वह उस परिवेश के साथ सहजत: सम्बद्ध होता है । इसलिए वहाँ जो कुछ देखता है, अनुभव करता है उसे मार्मिक व प्रभावी रूप में चित्रित करता है । इस सम्बन्ध में सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि लेखक पात्रों के माध्यम से लोक चरित्र एवं मनोविज्ञान को जो अभिव्यक्ति देता है(वह बोली-बात के माध्यम से ही होती है । लोक के यथार्थ के प्रभावपूर्ण निरूपण में वहाँ की बोली-बानी का महत्वपूर्ण योगदान रहता है । ऐसे उपन्यास की कथावस्तु के लिए चुने गये क्षेत्र की अपनी भौगोलिक स्थिति होती है । उसकी अपनी भूमिगत विशिष्टता होती है । स्थानगत विशेषताएं होती हैं । जो वहाँ के निवासियों के रहन-सहन, वेष-भूषा, खान-पान आदि पर अपना प्रभाव डालती है । विभिन्न क्षेत्रों की इन्हीं निजी विशेषताओं के कारण उनकी सभ्यता एवं

---

1. डॉ० शान्ति भारद्वाज - हिन्दी उपन्यास : प्रेम और जीवन, पृ. 20.
2. डॉ० कड़वे - हिन्दी उपन्यासों में आंचलिकता की प्रवृत्ति, पृ. 32.

संस्कृति में भी पृथकता दिखलाई देती है । इन सभी बातों को मुख्यत: हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों में अधिक महत्व मिला है ।

कथावस्तु के माध्यम से व्यक्ति और समाज के यथार्थ का वर्णन करते हुए उपन्यासकारों ने उपन्यासों के पात्रों द्वारा अर्जित व्यक्तिगत अनुभवों के आधार पर भिन्न-भिन्न परिस्थितियों का निरूपण और विवेचन किया है । ये पात्र मान्यताओं और दृष्टिकोणों के द्वारा सामाजिक जीवन में अपने को समयोजित करने का प्रयत्न करते हैं । समाज की कोई मान्यता अथवा कोई दृष्टिकोण उस पात्र की अपनी मान्यता तथा दृष्टिकोण की अपेक्षा महत्वपूर्ण नहीं रहता । हिन्दी उपन्यास के विकास क्रम में इन्ही परिस्थितियों के भीतर इतिहास के कतिपय तथ्य लेकर औपन्यासिक कथावस्तु के गठन की ओर लेखकों का ध्यान आकृष्ट हुआ । उनमें इतिहास की वास्तविकता और कल्पना की चिन्ता न कर लेखकों ने जिज्ञासा, साहसिकता, रोमांस आदि को महत्व दिया । वृन्दावनलाल वर्मा ने भी ऐतिहासिक उपन्यास लिखे हैं । उनके उपन्यासों में भी इन तत्वों का समावेश हुआ है । किन्तु रोमांटिक आदर्श और लोकतत्वों के कारण अन्य उपन्यास-कारों से उनकी स्थिति भिन्न प्रकार की है । उनके उपन्यासों में तत्कालीन वातावरण एवं परिस्थितियों की सुगमता के साथ ही साथ वर्तमान की समस्याओं का भी चित्रण हुआ है । इसी के साथ लेखक ने वहाँ के लोकजीवन में मनाए जाने वाले त्योहारों का भी वर्णन किया है ।

ग्रामीण अंचल की प्रकृति, नदी-नालों, लता-वृक्षों तथा पशु-पक्षियों के स्वाभाविक वर्णन द्वारा लोकजीवन की भूमिका पर लिखे जाने वाले उपन्यासों की पूर्व पीठिका इस प्रकार के उपन्यासों ने ही तैयार की है । लोक की पृष्टभूमि में लिखे गये उपन्यासों में लोकजीवन के यथार्थ को प्रस्तुत करने के लिए लेखक को वहाँ की प्रथाओं, परम्पराओं, मान्यताओं, लोककलाओं आदि का चित्रण करता है । अन्तर्जातीय एवं अनमेल विवाह सम्बन्धों के कारण पैदा होने वाले संघर्षों का भी निरूपण उपन्यासों में हुआ है । हिन्दी उपन्यासों के विकास क्रम में लोकवादी भूमिका की निर्मिति के लिए वृन्दावन लाल वर्मा का महत्वपूर्ण योगदान है ।

उनके उपन्यास "कचनार" में तत्कालीन लोकजीवन का चित्रण हुआ है। वर्मा जी से बहुत पहले प्रेमचन्द ने अपने कुछ उपन्यासों में ग्रामीण जीवन की जो झांकी प्रस्तुत की है, उसमें लोकजीवन के यथार्थ को प्रस्तुत करने की पूर्ण क्षमता निहित है। गांव के जीवन की गहराई में पहुँचकर वहाँ की वास्तविकता को उन्होंने इस प्रकार वर्णित किया है कि ग्रामीण लोक सांस्कृतिक चेतना जीवन्त रूप में उजागर हो जाय। प्रेमचन्द के उपन्यासों में ग्रामीण जीवन के सत्य का निरूपण तथा उसके प्रस्तुतीकरण में लोकभाषा के शब्दों का प्रयोग विशेष महत्व का है। "गोदान" की कथावस्तु में काशी तथा उसकी निकटता से सम्बद्ध अंचल के किसानों के जन-जीवन का मार्मिक वर्णन हुआ है। "अपनी समग्रता में जिस विस्तार को उपन्यास ने समेटा है वह मात्र किसी अंचल विशेष का नहीं अपितु उसमें देश के गाँवों के समस्त किसानों के जीवन यथार्थ की झांकी साफ दिखलाई पड़ती है।"[1] निराला की अधिकांश औपन्यासिक कृतियों में एक ओर ग्रामीण जन-जीवन में व्याप्त विकृतियों का वर्णन हुआ है तो दूसरी ओर ग्रामीणों में शिष्टाचार, उनके रीति-रिवाज, खान-पान, व्यवसाय, वेष-भूषा आदि का भी प्रभावपूर्ण चित्रांकन हुआ है। लोकजीवन के यथार्थ को चित्रित करने के लिए वहाँ के प्रचलित ठेठ अवधी शब्दों का प्रयोग पात्रों की अभिव्यक्ति में हुआ है। इनमें लोकजीवन के भीतर प्रचलित दिखावा, अन्धविश्वास, दरिद्रता, संकीर्णता, तथा वासना की भूख - प्यास का जो चित्रण हुआ है वह जीवन यथार्थ की स्वाभाविक झांकी प्रस्तुत करता है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत का सही चित्र जनता के सामने उपस्थित हुआ। क्रमशः अनेक प्रकार की समस्याएं, अनेक प्रकार के प्रश्न जटिल रूप में प्रस्तुत हुए। परिस्थितियां भी बदलीं। उसी के अनुसार परिवेश भी बदला। इन सभी का प्रभाव यहाँ के सम्पूर्ण जीवन पर पड़ा। राष्ट्र के जीवन में राष्ट्रीय भावना के विकास तथा जनजागृति एवं जन चेतना को व्यापक आयाम देने के लिए

---

1. डॉ० उषा डोगरा - हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों का लोकतात्विक विमर्श, पृ. 60.

लेखकों का ध्यान गांवों की ओर गया । मूलत: गाँवों के देश भारत को उसकी सम्पूर्णता के साथ चित्रित करने के लिए लोकजीवन को सामने ले आना आवश्यक था । अत: लोकजीवन के प्रति आग्रह और लोक यथार्थ के प्रति लेखक की रूचि और एकाग्रता के स्वाभाविक विकास का अवसर उत्पन्न हुआ । इसी के साथ महत्वपूर्ण बात यह थी कि सामान्यत: लोगों के भीतर एक बद्धमूल धारणा गांव की निश्छल मनोवृत्ति और प्रकृति को लेकर भी थी । लोक की भारतीय संस्कृति के सजीव प्रतीक के रूप में समझा गया । भारतीय संस्कृति के प्रमुख तत्वों-धर्म के प्रति आस्था, जीवन के प्रति भाग्यवादी भावना, विश्वासपरक विचारधारा, सेवा, त्याग, परोपकार प्रवृत्ति सहिष्णुता, प्रेम-भाव आदि का मौलिक रूप लोक जीवन में सुविधा से देखा जा सकता है । देश का लोक जीवन पिछड़ेपन के साक्षात् प्रतीक रूप में भी दिखाई देता है । विभिन्न समस्याओं से ग्रस्त और अभावों से जूझता लोक जीवन साथ ही उसका संघर्षशील रूप भी उसके आकर्षण पक्ष के साथ जुड़ा हुआ है । यही कारण है कि उपन्यासकारों ने लोक की दशा को सुधारने के लिए उसके वास्तविक स्वरूप को अपनी औपन्यासिक कृतियों में बड़े ही मार्मिक और प्रभावी ढंग से प्रस्तुत किया है । दरअसल भारत जैसे देश के सम्पूर्ण रूप को प्रस्तुत करने के लिए लोक की जीवन पद्धति तथा यथार्थ का समन्वित निरूपण आवश्यक था ।

प्रेमचन्द ने "गोदान" की रचना में लोक जीवन के जिस यथार्थ को निरूपित किया है वह देश के लोकजीवन की ही औपन्यासिक झांकी है । "गोदान" में लेखक ने जिन पात्रों का चरित्रांकन किया है वे उपन्यास के मंच पर उपस्थित होकर लोक जीवन का प्रतिनिधित्व करते हैं । लोकांचल में मिलने वाले अनैतिक सम्बन्धों का भी उपन्यास में प्रासंगिक चित्रण हुआ है । "गोबर ने विधवा झुनिया से सम्बन्ध स्थापित किया था । झिंगुरी सिंह की दोनों जवान पत्नियों के बारे में बातें चल रही थीं । मातादीन ने सिलिया चमारिन से सम्बन्ध स्थापित किया था । नोखेराम को आकर्षित कर नोहरी ने पूरे गांव में आतंक मचाया ।" इस प्रकार प्रेमचन्द ने "गोदान" में लोकजीवन के यथार्थ का सजीव चित्रण करते हुए

उसकी गोपनीयता को भी उद्घाटित किया है । उन्होंने जहाँ एक ओर लोक जीवन की वास्तविकता को स्वाभाविक और संजीव रूप में प्रस्तुत किया है वहीं उन सामाजिक और धार्मिक मान्यताओं, परिपाटियों, व रूढ़ियों पर भी कठोर प्रहार किया है जिनसे लोकजीवन की दशा बदतर हुई है । लोकजीवन के यथार्थ को वर्णित करने के लिए उन्होंने गांव की बोली-बानी का भी प्रयोग किया है । हीरा के द्वारा पुन्नी की पिटाई एक ऐसी घटना है जो प्राय: गांवों में घटती है । मार खाने के बाद पुन्नी की गालियों का लहजा लोकजीवन के उक्त सत्य को बिम्बित करता है । हीरा को गाली देती हुई पुन्नी कहती है – "तेरी मिट्टी उठे । तुझे हैजा हो जाय । देवी मैया तुझे लील जांय । तुझे एन्फ्लुएन्जा हो जाय । भगवान करे तू कोढ़ी हो हाथ पांव कट गिरें ।" इस प्रकार की वाचिक अभिव्यक्ति के द्वारा लेखक ने लोकजीवन के स्वरूप और सत्य को मार्मिकता और स्वाभाविकता के साथ प्रस्तुत किया है ।

राष्ट्र के विकास को ध्यान में रखते हुए तमाम योजनाएं बनाई गई थीं । शहरों में तो नव-जागरण और राष्ट्रीयता के चेतना के उद्बोधनार्थ आसानी से प्रयत्न हो सकता था किन्तु देश के सुदूर कोनों में बसे हुए गांवों में सुधार के लिए प्रयत्न की आवाज कैसे पहुँच पाये यह एक प्रश्न था । इसके लिए कठोर प्रयत्न की आवश्यकता थी । इस प्रयत्न को उपन्यासकारों ने अधिकांश में सार्थक बनाया है । युग जीवन की अपेक्षाओं को ध्यान में रखते हुए हिन्दी उपन्यासकारों ने लोकजीवन के चित्रण में अपनी पर्याप्त रूचि दिखाई है । हिन्दी उपन्यास साहित्य में भारत के लोक चित्रण की आग्रहशीलता ने देश के लोकजीवन की समग्रता को स्वाभाविक रूप में चित्रित करने के लिए प्रेरित किया है । यद्यपि उपन्यासकारों ने अपनी कृतियों में ग्राम्य जीवन की स्थितियों तथा वास्तविकताओं को उपस्थित किया है, लेकिन उसकी विभिन्न समस्याओं एवं विषमताओं का चित्रण करने के साथ ही अपेक्षित सुधार की आवश्यकता की ओर भी संकेत किया है । प्रेमचन्द युगीन उपन्यासों में पुलिस की कठोरता और शोषकों की अत्याचारी प्रवृत्ति का मर्मस्पर्शी चित्रण हुआ है ।

प्रेमचन्द ने लोकजीवन की निराशापूर्ण जिन्दगी का प्रभावी चित्र अपने उपन्यासों में व्यक्त किया है। आर्थिक एवं सामाजिक विषमता के ग्रस्त दीन-हीन लोगों का जीवन करूणा एवं विषाद से परिपूर्ण है। पूँजीपतियों साहूकारों, जमींदारों और सरकारी अहलकारों ने किसानों का भरपूर शोषण किया है। उनकी जिन्दगी की सुखशान्ति छीनी है। ऐतिहासिक उपन्यास-कार वृन्दावन लाल वर्मा अपने ऐतिहासिक उपन्यासों में लोक के यथार्थ स्वरूप को उकेरा है।

जैसा कि स्पष्ट किया गया है कि स्वतन्त्रता पूर्व हिन्दी उपन्यासों में लोकजीवन को चित्रित करने के प्रति लेखकों की रूचि तथा आग्रहशीलता दिखलाई पड़ती है। प्रेमचन्द ने गोदान में लोकजीवन की यथार्थता तथा लोक-जीवन का चित्रण यथार्थ के धरातल पर किया है। युग और समाज से प्रकृत रूप में सम्बद्ध लेखक अपने अनुभवों को अभिव्यक्त करना चाहता है। अभिव्यक्ति मात्र उसकी अपनी ही नहीं होती अपितु युग और समाज के साथ उसकी स्वाभाविक भागीदारी होती है। देश का जीवन विभिन्न परिस्थितियों से प्रभावित होकर विभिन्न उतार चढ़ावों से होकर गुजरता है। ऐसे व्यापक जीवन का चित्रण विशिष्ठ कोटि के उपन्यास द्वारा ही संभव हो सकता था। अत: उपन्यासकारों ने युग के अनुरूप ही देश की लौकिक पृष्टभूमि को अपनी कृतियों में प्रस्तुत किया है। स्वतन्त्रता के बाद गांवों के देश भारत की स्थिति में परिवर्तन हुआ। विकास की रूपरेखा निर्मित हुई। राजनैतिक वातावरण में भी परिवर्तन के कारण नई-स्थिति उभरी, गांवों की स्थिति को उभारने के लिए प्रयत्न होने लगे। इसलिए ग्राम-कथाकार के रूप में भारतीय ग्राम्य जीवन के संवेदनशील साहित्यकार सिद्ध होते हैं। लोकजीवन में केवल खेतिहर मजदूर ही नहीं रहते न केवल एक ही समस्या आर्थिक व सामाजिक है। अत: लोकजीवन की लोक-परम्परागत सांस्कृतिक जीवन विधि की उनकी समग्रता और विशिष्ठता को उजागर करने का कार्य अकेले प्रेमचन्द से संभव नहीं था।

प्रेमचन्द पूर्व हिन्दी उपन्यास मुख्यतया लोकतत्वों से रहित हैं। परन्तु कथानक वातावरण, बाद-संवाद में लोकचित्रण का स्वरूप दिखाई तो देता ही है। प्रेमचन्द ने स्वयं लोकजीवन की जीवन-विधि, समस्याओं, कठिनाइयों, रहन-सहन, खान-पान, विधि-विधान आदि के वर्णन द्वारा युग-जीवन के अनुरूप लोकजीवन को चित्रित किया है। लेकिन स्वतन्त्रता के बाद आंचलिक उपन्यासों के समावेश ने यथार्थ वादी जीवन से प्रभावित तथा अनुप्राणित लोक-जीवन का बहुविध रूप में चित्रण किया है। लोकजीवन का यह चित्रण स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद उपन्यास की कोई नई और मौलिक उपलब्धियां नहीं हैं। विभिन्न युगों में लिखे गये अनेक उपन्यासों में लोकजीवन के चित्रण का प्रयत्न मिल ही जाता है। उपन्यास रचना के विभिन्न तत्वों देशकाल एवं वातावरण के अन्तरगत उपन्यासकार स्थानीय रंगत को सजीव बनाने वाली प्रचलित बोली-बानी के शब्दों को भी प्रयुक्त करता है। प्रकृति की पार्श्वभूमि में वहाँ के लोकजीवन को निरूपित करने के लिए लोकगीतों का भी समायोजन किया जाता है।

व्यक्तिवादी उपन्यासों के विरोध में प्रतिक्रिया स्वरूप आंचलिक उपन्यास लेखकों ने लोकजीवन को अपनी रचना का आधार बनाया है। जिससे उस अंचल के समग्र जन-जीवन के विधान को प्रस्तुत किया जा सके। इस नयी चेतना की तरंग ने हिन्दी उपन्यास लेखकों को यह प्रेरणा दी कि वे नागर और आभिजात्य जीवन के चित्रण से अलग हटकर लोकजीवन को अपने उपन्यास का केन्द्रबिन्दु बनायें। भारत मुख्यत: गांवों में बसा हुआ है। जब तक ग्रामीण लोकजीवन की समग्रता को प्रस्तुत नहीं किया जाता ; उस अंचल विशेष की लोकतात्विक विशेषताओं को उजागर नहीं किया जा सकता। वहाँ की लोक संस्कृति प्रथाओं, परम्पराओं तथा मान्यताओं का वर्णन नहीं प्रस्तुत किया जाता तब तक उस अंचल के परम्परागत वास्तविक और सहज स्वरूप को उद्घाटित नहीं किया जा सकता। इस संदर्भ में यह भी महत्वपूर्ण है कि उपन्यासकार नागर जीवन की

घुटन भरी जिन्दगी, वहाँ की कृत्रिमता और औपचारिकता के अनुभवों को अभिव्यक्त करने के क्रम में उब रहा था । वह चाह रहा था कि शहरी जीवन की संकीर्ण सीमा के बाहर निकलकर और लोकांचल के विस्तार में पहुँचकर वहाँ की सरलता, सौम्यता, स्वाभाविकता और सजीवता आदि का अनुभव किया जाय । परिणामस्वरूप आत्मतोष और तृप्ति की आकांक्षा ने भी सहजत: लेखक को प्रेरित किया कि वह लोकजीवन के प्राकृतिक वातावरण तथा उसकी सम्प्रता को मार्मिक रूप से चित्रित करे ।

स्वतन्त्रता के पश्चात देश का समूचा स्वरूप परिवर्तित हुआ । अब यह समय नहीं रह गया था कि व्यक्ति अपनी मान्यताओं को महत्व देकर मात्र अपने व्यक्तित्व को स्थापित करने की राह तलाश करें और अपने एकाकीपन में जीवन की पीड़ा को गुप्त रखकर आगे बढ़ने की सोचें । तत्कालीन उपन्यासकारों ने यह आवश्यक समझा कि राष्ट्रीय भावना का विकास अपेक्षित है । अत: आवश्यक था कि वे नगर जीवन की अभिजात्य संकीर्णता को छोड़कर लोकजीवन में प्रवेश करें और उन अंचलों के लोकजीवन को प्रस्तुत करें । विभिन्न अंचलों की संस्कृतियों, परम्पराओं, प्रथाओं, रीति-रिवाजों, रहन-सहन जीवन पद्धति आदि को चित्रित किए बिना देश की सम्प्रता को प्रस्तुत करना कठिन होगा । इसकी पूर्ति हेतु फणीश्वरनाथ "रेणु" ने "मैला आंचल" लिखा । यहीं से आंचलिक उपन्यासों की सुव्यवस्थित परम्परा प्रारम्भ हुई ।

भारतीय लोकलीवन के पूर्ण स्वरूप को सजीव रूप में प्रस्तुत करने एवं निरूपित करने के लिए लेखकों ने इस औपन्यासिक विधा को अपनाया । यह आवश्यक था कि नितान्त एकाकी अछूते अंचलों को वहाँ के लोकजीवन को प्रकाश में लाया जाय । यही नहीं बल्कि यह भी आवश्यक था कि प्रत्येक अंचल की झांकी प्रस्तुत करने के साथ ही उन अंचलों में रहने वाले लोगों के परस्पर एकता, प्रेम, त्याग, सहानुभूति और आत्मीयता की भावना को प्रस्तुत किया जाय । प्रत्येक भू-भाग की मिट्टी की एक खास महक होती है । उसी

प्रकार वहाँ रहने वाले लोगों की मन:स्थिति की एक अलग गंध होती है। यह गंध उस देश के निवासियों की भाषा आचार विचार तथा मानसिकता में प्रतिबिम्बित होती है। हिन्दी उपन्यासों में आंचलिकता के उदय होने में इस स्वाभाविक आकर्षण का विशेष महत्व है।

भारत लोक सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यन्त वैविध्यपूर्ण एवं व्यापक है। इस व्यापकत्व में निहित लोक का विभिन्न अंचलों में सिमटा हुआ एक जीवन होता है। इसी प्रकार प्रत्येक अंचल का भी एक लोक है। इस अंचल के भी लोक का अपना एक जीवन है। यदि विभिन्न अंचलों के समन्वित लोक-जीवन का चित्र अंकित किया जाय तो वह अपने मौलिक रूप में देश की समग्रता में विद्यमान समूचे लोक का ही जीवन होगा। इसके चित्रण का कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है किन्तु अर्थपूर्ण तब बनता है जब लेखक लोकजीवन से निकटतम् रूप में परिचित हो। साथ ही साथ वह लोकजीवन में, निहित विभिन्न लोकाचारों, व्यवहारों लोकविश्वासों, मान्यताओं तथा लोककलाओं से पूर्ण परिचित हो। इन विभिन्न विषयों के चित्रण द्वारा जहाँ एक ओर लेखक सामाजिक यथार्थ को सजीवता पूर्वक प्रस्तुत करता है वहीं लोकजीवन के माध्यम से उसके आदिम पुराशेष की ओर संकेत भी करता है। यही पुराशेष परम्परा प्राप्त लोकतत्व है जो समाज के साथ अत्यन्त सूक्ष्म रूप में सम्बद्ध होते हैं। हिन्दी उपन्यासों में भारत के वास्तविक जीवन अर्थात लोक-जीवन का औपन्यासिक चित्रण निरन्तर अबाध गति से होता चला आ रहा है। सच पूछा जाय तो हिन्दी उपन्यास सही अर्थों में लोकजीवन, लोकवातावरण तथा लोक-संस्कृति की ही कथा है। ऐसा चित्रण ही भारतीय आत्मा का सही चित्रण है। इस प्रकार लौकिक समस्याओं, परिदृश्यों तथा कथानकों पर आधारित औपन्यासिक कृतियां नि:सन्देह लोकजीवन का सच्चे अर्थों में प्रतिनिधित्व करती हैं।

लौकिकता अपने आप में एक जीवित संस्कार है, मृत नहीं। निरन्तर गतिशील साथ ही रीतिवादी जीवन के प्रति नवीनता का श्रोत भी है। महत्व-पूर्ण यह कि उपन्यास साहित्य की यह उपलब्धि नयी और पुरानी दोनों ही

पीढ़ियों के वैचारिक तथा भावनागत संघर्ष के प्रभावस्वरूप उत्पन्न हुई है। परिवर्तन की गति तथा नये निर्माण की क्षमता ही इसका प्रमुख आधार है। निर्माण नवीनता का प्रमाण है। इसी नवीनता की भाँति यह लौकिकता भी जो नव निर्माण से अनुप्रेरित है आधुनिकता का ही भाव बोध कराती है। फलतः लौकिकता उपन्यास साहित्य का एक विशिष्ट अंग है।

"उपन्यासों में वर्तमान जीवन की परम्पराएं किस प्रकार पिछली परम्पराओं और मान्यताओं से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में किस प्रकार जुड़ी हुई है। इसका विवेचन उस जन जीवन की भाषा, भेषभूषा, उत्पादन के साधन, प्रकार विनिमय, वर्ग और जातियां तथा उनका परस्पर सम्बन्ध धार्मिक विश्वास जन्म से लेकर मृत्यु तक के आचार, शिष्टाचार, चरित्रगत, आदत, मनोरंजन के साधन, व्यसन, कलाएं, भोजन-पान, विश्वास तथा अन्य मान्यताएं जीवन-दर्शन सामाजिक उत्सव समारोह आदि के अतिरिक्त उपन्यासों में भौगोलिक स्थिति राजनीतिक महत्व बदलते हुए सामाजिक मूल्यों का विश्लेषण रहता है।"[1] इन सभी तथ्यों के विश्लेषण में लेखक का दृष्टिकोण मूलतः यथार्थवादी होता है। जिस संस्कृति का निरूपण ऐसे उपन्यासों में होता है वह नागरीय शास्त्रीय अथवा रीतिवादी संस्कृति के स्थान पर लोकसंस्कृति होती है। "निम्न वर्ग का अन्याय के विरुद्ध प्रतिक्रियात्मक दृष्टिकोण, धार्मिक एवं सामाजिक रूढ़ियों के विरोध एवं उन्नति की आशा का प्रगतिशील दृष्टिकोण, जनजागृति की नवीन चेतना की अभिव्यक्ति इस प्रकार के उपन्यासों में यथार्थवादी धरातल पर हुई है।"[2] उनमें जमींदारों द्वारा किये गये कठोर अत्याचार से पीड़ित साधारण जनता का मर्मस्पशी चित्रण तथा उन अत्याचारों के विरुद्ध दमन और शोषण के प्रति संघर्ष की आवश्यकता का यथार्थ तथा प्रभावपूर्ण चित्रण हुआ है।

---

1. हिन्दी उपन्यास - सं० डॉ० महेन्द्र शर्मा, पृ० 128.
2. डॉ० सुमित्रा त्यागी - स्वातंत्र्योत्तर उपन्यास में जीवन दर्शन, पृ० 231.

नागार्जुन ने "बलचनमा" में दरभंगा जिले के एक गरीब किसान की संघर्षों से त्रस्त जिन्दगी का चित्रण किया है। जो सामंतवाद के विरोध में विद्रोह की भूमिका को संजोता है। लेखक ने जहाँ जनजीवन के यथार्थ का निरूपण किया है वहीं उस यथार्थ को विश्वासपरक बनाने के लिए अत्याचार, अन्याय, दमन तथा शोषण से त्रस्त लोगों की दशा का वर्णन भी किया है। "मैला आँचल" में उपन्यासकार रेणु ने सामन्तों के शोषण से त्रस्त तथा अन्याय की चक्की में निर्ममता के साथ पिसी जा रही आम लोगों की दयनीय जिन्दगी की करुण कहानी कही है।

लेखक लोकजीवन और उसके यथार्थ स्वरूप को प्रस्तुत करने के लिए वहाँ की प्रकृति के साथ नैसर्गिक दृश्यावली भी प्रस्तुत करता है। इस सम्बन्ध में भी उसका दृष्टिकोण मूलत: यथार्थवादी होता है। वहाँ के परिवेश में लोगों के साथ घुल-मिलकर जहाँ वह लोगों की जीवनधारा का चित्रण करता है वहाँ के जीवन की भौगोलिक स्थिति, वहाँ की जलवायु, प्राकृतिक दृश्यावली आदि का भी वर्णन करता है। इस निरूपण के लिए वह उस स्थान की बोली का भी प्रयोग करता है। लोक कथाओं के माध्यम से लेखक लोकजीवन की विभिन्न दशाओं का वर्णन करता है। "उपन्यासकारों ने परम्परागत जीवन की आस्थाओं, प्रथाओं और रूढ़ियों का यथार्थवादी चित्रण करते हुए अविकसित अंचलों में उसके प्रति अनास्था भाव के उदय तथा नवीन विचारों के समावेश का दृष्टिकोण अपनाया है। प्रेम, विवाह, वैधव्य, शारीरिक पवित्रता आदि विषयों पर विचार व्यक्त हुए हैं।"[1] कहीं-कहीं पुरानी नैतिक रूढ़ियों पर भी प्रहार करने के लिए व्यक्ति विवश दिखलाई पड़ता है। वह सामाजिक विद्रोह को भी चुनौती देता है। शैलेश मटियानी के "चिट्ठी रसैन का "नाथू" हौलदार" एक ऐसा ही व्यक्ति है जो रमौती के गर्भ धारण करने की स्थिति को अनैतिक

---

1. डा0 सावित्री सिन्हा - स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास में लोकजीवन, पृ॰- 257.

और पाप मानने वाले समाज के हाथों प्रायश्चित करने के लिए यों ही नहीं छोड़ देता है बल्कि वह उसके प्रति उदारता और मानवता का दृष्टिकोण अपनाता है। लेखक ने इस लोक सत्य के द्वारा लोकजीवन के यथार्थ का स्वाभाविक स्वरूप सामने रखता है। अवस्था के अनुसार यौवनावस्था में "वासना का उफान सहजत: प्रबल होता है। इस पर नियंत्रण की भी एक सीमा होती है। उपन्यासकारों ने लोक जीवन की इस सत्यता का अनुभव किया है।

लोकजीवन की अभिव्यक्ति प्रस्तुत करने के लिए यह आवश्यक है कि उपन्यासकार परिवेश और वातावरण पर भी ध्यान दे। इसकी सफल निर्मिति के लिए प्राकृतिक पार्श्वभूमि का चित्रण आवश्यक है। उपन्यास में तो यों भी प्रकृति की पृष्ठभूमि का मौलिक महत्व है। उपन्यासकार प्रकृति के विभिन्न उपादानों को माध्यम बनाकर विभिन्न प्रकार के प्रासंगिक विषयों को प्रस्तुत करता है। प्रकृति के ये विभिन्न रूप सन्दर्भ जहाँ उपन्यास में एक ओर वे समूचे लोकजीवन को प्रभावित करते हैं वहीं दूसरी ओर अनुकूल वातावरण की भी सृष्टि करते हैं। उस प्रभाव से सम्बद्ध लोकजीवन को लेखक अपनी औपन्यासिक कृति में रूपायित करता है।

हिन्दी उपन्यासकारों की भांति अन्य भारतीय भाषाओं के उपन्यासकारों ने भी प्रकृति की नैसर्गिकता को चित्रित करते हुए उसके परिपार्श्व में लोकजीवन को सजीवता पूर्वक अंकित किया है। मराठी के लेखक दिघे ने अपनी कृति "पाणकला" में विभिन्न प्रकार के दृश्यों, फलों, पक्षियों, वन्य पशुओं तथा वनस्पतियों आदि के चित्रण द्वारा लौकिक वातावरण को अत्यन्त सजीव तथा स्वाभाविक रूप में प्रस्तुत किया है। उपन्यास में "रानसई" गांव के लोकजीवन का प्रकृति की पार्श्वभूमि में चित्रांकन हुआ है। गुजराती उपन्यासकार पन्नालाल पटेल ने अपने उपन्यास "मलेलाजीव" में लोककथाओं के प्रासंगिक चित्रण द्वारा लोकजीवन का यथार्थ रूप प्रस्तुत किया है। लोकजीवन के इस चित्रण में प्रकृति के परिपार्श्व का निरूपण वस्तुत: प्रभावपूर्ण और स्वाभाविक है।

लोकजीवन के विस्तार में जो कुछ भी है उसका स्वाभाविक सम्बन्ध वहाँ की प्राकृतिक परिस्थितियों से होता है। प्रकृति के परिपार्श्व से प्रभावित जीवन की सम्पृक्तता को चित्रित करना ही लेखक का मूल प्रतिपाद्य होता है। लोक की माटी की अपनी गंध होती है। वहाँ के रहने वालों का जीवन वहाँ की भूमि में ही शुरू होता है। विकसित होता है और समाप्त होता है। जहाँ वनों की प्रचुरता होगी वहाँ के निवासियों की प्रवृत्ति शिकार की होगी। जहाँ पर्वत और घाटियाँ होंगी वहाँ के लोग पैदल यात्रा करने के आदी होंगे। मरूस्थल में रहने वाले लोग ऊँट की सवारी के अभ्यस्त होंगे। अतः हर जगह का प्राकृतिक परिवेश तथा भौगोलिक स्वरूप एक जैसा नहीं होगा। इसी नाते उनके रहन-सहन, पहनावे, खान-पान, संस्कार, मान्यताएं, प्रथाएं, रीति-रिवाज, धर्म-विश्वास आदि सभी कुछ अपनी विशिष्टता लिए होंगे। कहने का तात्पर्य यह कि समूचा सामाजिक लोक-जीवन प्राकृतिक परिपार्श्व के अनुरूप होगा। इसके वर्णन के बिना उस वातावरण की निर्मिति नहीं हो पाती जिसमें वहाँ का समूचा लोकजीवन अपनी पूरी सजीवता के साथ विद्यमान है।

उपन्यासकार जिस लोकजीवन की झांकी प्रस्तुत करता है वह लोक-जीवन सामान्यतः पिछड़ी जातियों का है। दुर्भाग्यवश उन्नीसवी शती की नबाबी कल्चर और उसकी वर्णसंकर उपज तालुकेदार-जमींदार-संस्कृति के उत्तराधिकारी उत्तर भारतीय जीवन पर छाये हुए हैं और इनके द्वारा निर्धारित मूल्य परम्परा का जो एक दोगली दरबारी संस्कृति पर अंग्रेजियत की कलम लगाकर तैयार हुई है। विकासोन्मुख पिछड़ी जातियाँ भी ऊपर की ओर उठने के साथ-साथ उनका अनुकरण करने लगती हैं। वे अपनी असली संस्कृति को त्याज्य या हेय मानने लगती हैं। उत्तर भारत में लोक संस्कृति बची है तो छोटी जातियों में ही। उत्तर भारत की लोक विमुख वर्णसंकर अभिजात संस्कृति का फतवा है कि ये सब गंवारू चीजें हैं।"[1] लेकिन आज भी छोटी जातियों को सांस्कृतिक

---

1. डॉ० कुबेरनाथ राय - पर्णमुकुट, पृ० 34.

दृष्टि से जीवित माना जाना चाहिए क्योंकि इसके सामाजिक जीवन में लोकगीत या लोकनृत्य बहुत कुछ सम्मानित था और आज भी है। लोक-संस्कृति की इस जीवंतता का जाति निरपेक्ष वृहत्तर उपयोग उपन्यासों में होता है।

उपन्यास में जो कथावस्तु अथवा वर्ण्य विषय, कथातन्तु या कथा-रूप पाये जाते हैं वे सभी लोकवार्ता तत्व की सामग्री है। उसकी सहजता सरलता को स्पष्ट करने के लिए लावल (फ्रान्स) और मान्ड्रियल (कनाडा) विश्वविद्यालयों के नृतत्वशास्त्र तथा लोकवार्तातत्व के प्रोफेसर मेरियस बारो का अभिमत है कि "लोकवार्ता तत्व को लोकवार्ताविदों में विभिन्न संकीर्ण क्षेत्रों में बाँटकर उसकी सहज व्यापकता और उन्मुक्त विकास में बाधा पहुँचाई है। एकाधिकार की एकपक्षीय पारंगता प्राप्त करने की धुन में लोकवार्ता तत्व को एक ऐसा जटिल गोरख-धन्धा बना डाला है जिसके अत्यन्त सरल एवं स्वाभाविक होने पर भी जिज्ञासुओं को शास्त्रीय अध्यन द्वारा ही उस तक गति प्राप्त करनी होती है। लगभग वैसी ही बात उपन्यास क्षेत्र में हुई। सभी देशों की भाषाओं के साहित्यों में उपन्यास एक सरल, सहज, लोकरंजक विधा रहा। आलोचक वर्ग में भी उसे संकीर्ण और जटिल बनाने के सम्बन्ध में समर्थन नहीं प्राप्त हुआ। किन्तु जैसे-जैसे उपन्यास लोकवार्ता से दूर हटता गया, विकृतियाँ आने लगीं, आलोचना के क्षेत्र में भी उपन्यास के कृत्रिम मानों को प्रश्रय मिलने लगा और उसके वास्तविक एवं मौलिक साहित्य को उपेक्षा की दृष्टि से देगा जाने लगा।"

इस प्रकार के उपन्यासों में "उपन्यासकार पाठक को लोक के चरित्रों, घटनाओं के घात-प्रतिघात में छोड़कर अलग हो जाता है। हर चरित्र की कमजोरियाँ व विशेषताएं साथ-साथ सामने आती हैं। न किसी को अतिरिक्त गरिमा से मंडित किया गया है और न एक को उभारने के लिए दूसरे को गिराया गया है। लेखक की पूरी संवेदना सभी के साथ है। लेकिन अति-

रिक्त मोह या घृणा किसी के साथ नहीं । इस कारण हर चरित्र अपने पैरों पर खड़ा होता है, चलता है, लड़खड़ाता भी है पर लेखकीय बैसाखी नहीं लगाता । जिस चरित्र में जितना अधूरापन है उसे लेखक ने स्वीकार कर लिया है और एक आदर्शपूर्ण चरित्र रखने के फेर में उसमें भराई नहीं की है ।"[1]

भारतीय लोकतत्व का विभिन्न देशों के लोकजीवन का एक अंग हो जाना इस बात का पर्याप्य प्रमाण है कि लोकतत्व स्थानीय तथा एकदेशीय होता हुआ भी अपनी सार्वभौम, प्रकृति बनाए हुए है । वह लोकमानस का दर्पण है । उसमें इतिहास से भी पुरानी मान्यताएं, धारणाएं, अनुश्रुतियां एवं किंवदन्तियां यत्र-सर्वत्र प्रतिबिम्बित रहती हैं । इसलिए जब हम विश्व उपन्यासों में निहित लोकतत्व में और भारतीय उपन्यासों में निहित लोकतत्व के सूत्रों के बीच विस्मय जनक समानताएं पाते हैं तो लोकतत्व की दृष्टि से इसमें कोई असंगति नहीं जान पड़ती । जिस भाँति भारतीय कथा कहानियां विभिन्न जलवायु एवं प्राकृतिक वातावरणों में यत्किंचित् परिवर्तित होती चली गयीं उसी भाँति उपन्यासों में भी वे ही तत्व यात्किंचित् परिवर्तन के साथ पाये जाते हैं । प्राय: सभी साहित्यों में समान कथा सूत्र, कथारूप, लोककथा शैली पर ही आधारित एवं उससे प्रेरित कथा विन्यास, लोकविश्वासों के जन-जीवन पर अमिट प्रभाव, लोकोत्सवों एवं लोक-मनोरंजनों की मनोरम छटा, प्रेम और घृणा की तर्कसिद्ध या तर्कविरुद्ध अविरल धाराएं, मानस कल्पना की बालोपम विस्मय, विमुग्धकारी उड़ाने तथा स्वप्नों के देश की, पृथ्वीतल पर होने वाले व्यवहारों पर आरोपित करना आदि लोकतत्व विश्व के प्रत्येक उपन्यास साहित्य में समान रूप से परिभाषित एवं मुखरित होते रहे हैं । ये औपन्यासिक जगत की समानताएं यूरोप और एशिया की विभिन्न एवं परस्पर विरोधिनी संस्कृतियों का भी अतिक्रमण करके देश-विदेश में भ्रमणशील रहती हैं । इसलिए विश्व साहित्य में परिव्याप्त लोकतत्व की विशिष्टताएं जब भारतीय उपन्यासों में

---

1. दिनमान - 31 अगस्त 1969, पृ॰- 37.

परिलक्षित होती हैं तो वे न केवल विस्मय को जन्म देती हैं अपितु अनेक बार साहित्यालोचन के क्षेत्र में भी उनके कारण विचित्र वितंडावाद एवं भ्रान्त धारणाओं का उहापोह प्रवर्तित हो जाता है ।

हिन्दी साहित्य में ही नहीं भारतीय उपन्यास साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों में भी ऐसी ही चर्चाएं प्राय: आलोचना के क्षेत्रों में कही सुनी जाती हैं कि अमुक भारतीय उपन्यास अमुक रूसी, फ्रेन्च या अंग्रेजी उपन्यास का छायानुवाद है । वस्तुत: उपन्यास का अनुवाद तो संभव है किन्तु उसके क्षेत्र में प्रतिच्छाया जैसी बात की कोई गुंजाइश नहीं बचती । केवल कथा-सूत्रों या कथारूपों का समान आभास ही किसी उपन्यास की मौलिकता का निर्णय नहीं कर सकता । कारण यह है कि उपन्यास विधा का आधारभूत तत्व लोकतत्व ही है । उसकी रचना का उद्देश्य लोक से ही जुड़ा हुआ है । मानव मात्र में लोकमानस की प्रवृत्तियां तो समान ही हैं इसलिए उपन्यास की वाह्य प्रकृति के आधार पर कोई आलोचना सम्भव नहीं है । उसकी कसौटी तो केवल यही है कि उसमें लेखक ने लोकतत्व का समावेश करने में कितनी क्षमता एवं निपुणता दिखलाई है । इसीलिए विश्व भर में उपन्यासों की लोकप्रियता उनकी लोकमानस को भरने वाली लोकतत्वात्मक विभूति ही है । वह भारतीय उपन्यासों ने भी वैसी ही परिलक्षित होती है जैसी कि पर्यवेक्षित विभिन्न देशों के उपन्यास साहित्य में प्रतिभासित हुई है ।

विश्व उपन्यासों में "हीदन" दुइद आदि आदिवासी संस्कृतियों में जो प्रकृति पूजा के तत्व पाये जाते हैं, उनका थामस हार्डी जैसे समर्थ उपन्यासकारों ने अपने कृषक एवं गोपालक उपन्यास जगत में प्रभूत प्रयोग किया है । उनके अवशेषों एवं जन-साधारण के प्रागैतिहासिक लोकविश्वासों का भी अनेक स्थलों पर विशद उल्लेख किया है । भारतीय उपन्यासों में भी इस भाँति के उल्लेख प्राय: सभी प्रादेशिक उपन्यासों में पाये जाते हैं । भारतीयों के आजकल के लोकजीवन में वटवृक्ष की पूजा एवं तुलसी पूजा की विशद चर्चा नागार्जुनकृत "बाबा बटेसरनाथ"

DISS
0,152,3,N,D,1:g(Y) TH-2202
152MC

मेधाड़ीकृत "सोरठ तारां बहेता पाणी" साने गुरूजी कृत "श्याम ची आई" आदि उपन्यासों में विशेष रूप से उल्लेखनीय है । बंगला के प्राय: प्रत्येक उपन्यास में इस तत्व की बहुलता पायी जाती है । रवीन्द्रनाथ ठाकुर, शरद बाबू आदि सभी ने अपने उपन्यासों में इसका चित्रण किया है ।

कृषक-गोपालन संस्कृति का पुरातन उत्सव-नृत्य पाश्चात्य देशों में "मे पोक" उत्सव के रूप में और प्राच्य देशों में "अन्नपूर्णा उत्सव" के रूप में सर्वत्र ही मनाया जाता है । उसका उल्लेख जिस प्रकार थामस हार्डी ने अपने प्रसिद्ध उपन्यास "टेस आफ द डरबर विले" के दूसरे अध्याय में मारकट गांव में "क्लब वाकिंग" नृत्य की छटा दिखाकर किया है, उसी भांति राहुल सांकृत्यायन ने अपने "जय यौधेय" में अन्नपूर्णा उत्सव का उल्लेख किया है । जिस प्रकार टेस प्रथम उत्सव की अधिष्ठात्री बनीं थीं उसी प्रकार वसुनन्दा को भी बालों से सजाकर अन्नपूर्णा देवी बनाया गया था ।

अंग्रेजी उपन्यास के पर्यवेक्षण के अन्तरगत सर वाल्टर स्कॉट कृत विशिष्ट उपन्यास "ओल्ड मार्टेलिटी" के वर्णनों में ऐसे अनेक लोकतत्व समक्ष आते हैं जो कि भारतीय उपन्यास साहित्य में अपने सीधे समान-सूत्र रखते हैं । उदाहरणार्थ बंकिमचन्द के "आनंदमठ" एवं "देवी चौधरानी" को ही लें । जिस भांति मातृभूमि की ममता उसकी स्वाधीनता की अक्षय पिपासा एवं शाश्वत लोक-प्रवृत्तियों की, बंकिम बाबू ने अपने उपन्यास जगत में धार्मिक आस्था एवं विश्वासों को सुदृढ़ लोकमानस सूत्रों में समन्वित कर दिया है, उसी भांति स्कॉट ने अपने उक्त उपन्यास में कावेनेन्टर्स नामक विशिष्ठ धार्मिक सम्प्रदाय के नेताओं तथा अनुयायियों के आत्मोत्सर्ग को देश की स्वाधीनता प्राप्ति एवं धार्मिक विश्वासों की पुन: प्रतिष्ठा के साथ अनुपम कौशल से जोड़ दिया है । जिस भांति बर्ले नामक संत संयमी नेता मार्टन के प्रति निम्न उदबोधक वचन कहता है :- "हम यहां ईश विमुख लोगों का संहार करने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध हैं, चाहे वह हमारा पड़ोसी ही क्यों न हो ।" उसी भांति "आनन्दमठ" के आचार्य एवं नरेन्द्र ब्रह्मचारी के भाषणों में भी वैसी ही पुकार सुनाई पड़ती है । जिस प्रकार "आनन्द

मठ" के लोग "हो मुरारे ! मधु कैट भारे" तथा "बंदे मातरम् के गान के साथ युद्धक्षेत्र को अभियान करते हैं, उसी भाँति "ओल्ड मार्टेलिटी" में पुरातन ईसाई भजन गाते हुए वीरगति को प्राप्त होते हैं ।

श्रीमती पर्लबक के विश्व प्रसिद्ध उपन्यास "गुड अर्थ" तथा भारतीय साहित्यों में रचे गये अनेक उपन्यासों में लोकतत्व के समान-सूत्रों का उल्लेख भी अपना एक विशेष महत्व रखता है । भूमि के प्रति समस्त कृषक संस्कृतियों में जो अनुपम ममत्व पाया जाता है । वह मात्र गुड अर्थ के "वाङ लङ" की ममता नहीं है वह गोदान के "होरी" से लेकर भारतीय उपन्यास साहित्य के प्रत्येक आंचलिक उपन्यास की व्यापक एवं सुदृढ़ कथा-प्रेरणा रही है । उदाहरणार्थ उड़िया भाषा के समर्थ उपन्यास "छअ माण आठ गुंठ" की सारी कहानी जमीन के छोटे से टुकड़े को लेकर कही गयी है । गुजराती के पन्नालाल पटेल कृत "मणेला जीव" आदि उपन्यासों में मौलिक कथाश्रोत यही धरती की ममता है । रंगभूमि का सूरदास तो एक भूमि के टुकड़े की रक्षा के लिए अपनी जान तक दे देता है । इसी प्रसंग को लेकर "रेणु" ने अपने प्रख्यात उपन्यास "मैला आंचल" की रचना की ।

आधुनिक उपन्यास साहित्य का चरम विकास यद्यपि पाश्चात्य देशों में ही हुआ है फिर भी कथा-साहित्य के आदि रूपों का उद्भव एवं पूर्व विकास भारतीय लोककथाओं एवं कथा संकलनों के माध्यम से समयांतर में सारे पाश्चात्य जगत में परिव्याप्त हो गया था । भारत के अतिरिक्त चीन और जापान में भी पर्याप्त प्राचीनकाल से ही कथा साहित्य एवं उपन्यास साहित्य का प्रचार-प्रसार हो गया था । इन तीनों देशों में प्रचलित लोकविश्वासों, लोकधारणाओं, लोकपरम्पराओं एवं संस्कार उपासना आदि के क्षेत्रों में, अधिकांश रूप से समान तत्व पाये जाते हैं ।

"भारत और चीन के लोकजीवन के इस साम्य का मूल इन दोनों देशों की कृषि गोपालन संस्कृति ही है । जापान ने इन दोनों पड़ोसी राष्ट्रों

के जीवन में परिव्याप्त लोकवृत्तियों के साथ अपनी जाति की, निजी कलात्मक एवं सौन्दर्य - भावना मूलक गहन अनुभूति भी जोड़ दी है । इस दृष्टि से जापानी भाषा में लिखी गई आदि औपन्यासिक कृतियाँ, विश्व की आद्य रचनाएं होने के कारण ही नहीं वरन् लोकतत्वात्मक होने के नाते भी, विश्व भर के विद्वानों एवं लोकवार्ता प्रेमियों की रूचि एवं अनुसंधान के लिए प्रिय विषय रही है ।"[1]

जापानी उपन्यासों में जो सामाजिक मान्यताओं एवं लोक-विश्वासों का जो विस्तृत एवं विशद विवरण पाया जाता है वह प्राय: भारतीय संस्कारों एवं प्रथाओं से मिलता जुलता है । उसमें मुंडन संस्कार, दीक्षांत संस्कार, विवाह सम्बन्धी रीति-रिवाज, उत्सव-त्योहारों एवं व्रतों की परंपरा होली के समान नव वर्ष उत्सव आदि के वर्णन बड़े ही रोचक हैं । वे सभी हमारे अपने जन-जीवन के इन सभी पक्षों की याद कराते हैं । जापानी जनता में भी भूत-प्रेत, डायन-चुड़ैल आदि में उसी भांति लोकविश्वास पाये जाते हैं जैसे कि भारतीय जन-साधारण में । परकाया - प्रवेश, पशु-पक्षियों का मानव रूप धारण कर लेना और उनके कार्यों में दखल देना आदि अनुश्रुतियां वहां भी प्रचलित हैं । वे सभी भारतीय लोककथाओं से गहरा साम्य रखती हैं ।

चीनी में लिखित उपन्यास "शुई हु चुआन" भी एक ऐसा ही उपन्यास है जिसके मौलिक लोकतत्व भारतीय कथा साहित्य में कादम्बरी काल से ही पाये जाते हैं । इस उपन्यास का नायक भी नक्षत्र लोक से अवतरित महापुरूष है उसे उपन्यासकार ने "नक्षत्रों का अधिपति" बताया है । इसका पर्याय कादम्बरी का कथानायक चन्द्रापीड है । सम्भव है उपन्यासकार ने किसी चीनी रूपान्तर से ही इसके लेखन की प्रेरणा ली हो । उपन्यास में देवी के प्रकट होने या सपने में दर्शन देने के प्रसंग अनेक भारतीय उपन्यासों में पाये जा सकते हैं । भगवतीचरण वर्मा के विख्यात उपन्यास चित्रलेखा में, चन्द्रगुप्त के दरबार में तांत्रिक एवं योगि के स्पर्धा के दृश्य के समान दो जादूगरों के चमत्कारिक संघर्ष पठनीय हैं ।

---

[1] डा० इन्दिरा जोशी- हिन्दी उपन्यासों में लोकतत्व - पृ० 341

"भारतीय संस्कृति मूलतया नदी संस्कृति ही रही है यह ऐतिहासिक सत्य है। ये नदियां न जाने कि संस्कृति के कितने तत्वों को समेटे हुए है जैसे नदियों के नाम, रूप, पूजन आदि की समस्याएं। नदियों का प्रवाह, सौन्दर्य आदि नदी के तटवासी प्रान्तों की संस्कृति को बहुत प्रभावित करता है।"[1] इसलिए इसका पर्याप्त प्रभाव उपन्यास साहित्य पर पड़ना स्वाभाविक है। विश्व उपन्यास का एक प्रमुख अंग "नदी पुराण की गाथा रही है। अर्नेस्ट हेमिंग्वे को उनकी महान कृति "ओल्ड मैन एंड द सी" पर नोबुल पुरस्कार मिला था। उदयशंकर भट्ट रचित "सागर लहरें और मनुष्य" के नामकरण में ही उसकी प्रेरणा स्पष्ट है। रूद्र काशिकेय ने "बहती गंगा" में उसी की अविरल धारा को कथासूत्र बनाकर अपने उपन्यास की सृष्टि की है। वृन्दावनलाल वर्मा का कोई भी ऐतिहासिक उपन्यास बिना चंबल और बेतवा की प्रशस्ति के पूरा नहीं होता। इस भांति वरूण देवता की उपासना एवं नदी-पुराण की गाथा जो कि मानव की प्रागैतिहासिक आराधना-केन्द्र रही है, विश्वभर के उपन्यासों में सर्वत्र प्रतिबिम्बित होती है। इस उपन्यास माला में मिखाइल शोलोखोव (रूसी) की क्वाएट फ्लोज द डॉन (धीरे बहे दोन रे) एक ऐतिहासिक कड़ी है। माणिक बन्धोपाध्याय कृत "पद्मा नदीर माझी" समरेश वसु कृत "गंगा" नागार्जुन कृत "वरूण के बेटे" रेणु की "परती परिकथा" आदि इसी विषय के लोकतत्वात्मक उपन्यास हैं।

उपन्यास साहित्य में लोकतत्व की परिव्याप्ति एक शाश्वत प्रभाव के रूप में क्यों पायी जाती है? इसका कारण यह है कि मानव मात्र के मानसिक जगत में मूल लोक मानस व्याप्त रहता है। उसमें पुरातन काल से चली आने वाली धारणाओं, विश्वासों एवं लोकवार्ताओं, लोकगाथाओं आदि का गहरा प्रभाव सदा बना रहता है। चाहे वह उन्हें अपनी वाणी या लेखनी द्वारा परिवेश क्यों न पहना दे। तथाकथित सभ्यता और संस्कृति के कितने ही आवरण

---

1. राममनोहर लोहिया - नदियां साफ करो, पृ- 7.

लोकमानस में समाए हुए लोकतत्व को निर्मूल अथवा जड़ीभूत करने में असमर्थ सिद्ध होते हैं। क्योंकि ऐसा प्रत्येक तत्व लोकमानस प्रदत्त पैतृक दाय के मूल साँचों में ही अन्ततः ढलकर ग्राह्य हो जाता है। उपन्यासकार कभी भी अपने सहज मानवीय लोकतत्वात्मक प्रवृत्ति से विलग नहीं हो सकता। चाहे भाषा, शैली, रचना-विन्यास, तथा भारतीय विधाएं उसकी कृति को लोक-तत्व से विभिन्न होने का आभास देने में समर्थ हो जाएं किन्तु रचनात्मक प्रतिभा की जड़े तो लोकतत्व की कभी न चुकने वाली नव-उद्भावनाओं एवं मौलिक सूझ-बूझ में ही बनी रहती हैं। जब-जब उपन्यासकार अपनी कृति में प्राणहीन प्रवाह एवं मौलिक उद्भावना की दरिद्रता अनुभव करता है तो जाने अनजाने उसका मन लोकतत्व के अक्षय एवं उज्ज्वल भंडार की ओर साध्य के लिए बरबस ही लौट पड़ता है। यदि संक्षेप में कहा जाय तो - उपन्यास में जो कुछ सजीवता, मौलिकता एवं चमत्कारिता है - लोकमानस को आलोड़ित एवं आन्दोलित करने की उसके अन्तर्गत जो भी गहरी मर्मानुभूति है, तथा पाठक के मन को विशुद्ध आह्लाद एवं विस्मय से अभीभूत कर देने की जो कुछ क्षमता है, वह वस्तुतः उसमें परिव्याप्त लोकतत्व ही है।

****

(ख) पुनर्नवा में लोकसांस्कृतिक चेतना

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी साहित्य के इतिहास को नवीन वस्तुनिष्ठ और वैज्ञानिक दृष्टि से व्याख्यायित तो किया ही है साथ ही साथ अपने सृजन द्वारा भारतीय लोकजीवन की विस्मृत कड़ियों को यथार्थ और कल्पना के समिश्रण से अनुलेपित किया है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में मध्यकालीन धर्म-साधना, मध्यकालीन बोध का स्वरूप, नाथ सम्प्रदाय और भारतीय चिन्ताधारा व परम्परा के गतिशील स्वरूप के साथ विवेचित किया तो उपन्यासों में प्रागैतिहासिक काल से लेकर बारहवीं शती तक का इतिहास अपने सामाजिक व लोक सांस्कृतिक परिवेश के साथ वास्तविक रूप में प्रस्तुत किया है। पुनर्नवा [1] में व्यवस्थाओं के पुनर्नवीकरण के साथ समुद्रगुप्त कालीन जीवन के लोक में प्रचलित पात्रों लोरिक, चन्दा तथा मंजरी की सृष्टि कर वास्तविक धरातल प्रदान किया है। इस उपन्यास में महाकाल के रथचक्र के साथ चलने वाले मानव की विकास यात्रा की कहानी है। इस लम्बी विकास यात्रा में किसी से भी न डरने का, जीवन सत्य को पाने का, अपना सर्वस्व उलीचकर दान कर देने का परीश्रम ही सबसे बड़ी तपस्या है, आदि आजीवन संघर्षरत रहने के लिए द्विवेदी जी ने लोक-समुदाय को अमोध मंत्र प्रदान किये हैं। ये मंत्र उस समय के जीवन में ही नहीं आज के जटिल व संघर्षमय लोकजीवन में भी सटीक बैठते हैं।

लोकजीवन में विद्यमान परिस्थितियां बीते हुए समय की देन हैं। भारतीय लोकजीवन में आज भी जीवित कर्मकांड, रीति-रिवाज, आचार-व्यवहार, तंत्र-मंत्र प्राचीन समय से चली आती परम्परा व रूढ़ि की देन हैं। उनके अनुभव, विकास, प्रचलन, ह्रास व रूढ़ि का सही परिचय लोकजीवन की परम्परा में ही मिल सकता है। लोकजीवन में प्रचलित आचरण आज भी देखे जा सकते हैं।

---

1. पुनर्नवा - आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, 1973 में प्रकाशित।

जिनके पीछे एक दार्शनिक तत्व विद्यमान रहा करता है । कभी-कभी जाति उस तत्व को अनजाने में ही स्वीकार किये रहती है । कभी-कभी जानबूझकर । जो बातें अनजाने में ही स्वीकृत हुई हैं वे सामाजिक रूढ़ियों के रूप में चलती रहती हैं । परन्तु जाति की लौकिक परम्परा के अध्ययन से ही यह पता चलता है कि यह किस कारण प्रचलित हुआ था । इन मानवीय आचारों और अनेक समस्याओं को महाकाल के परदे पर चित्रित करने के लिए आचार्य द्विवेदी लोकतात्विक उपन्यास की सर्जना करते हैं । लौकिक जीवन मूल्यों को स्थापित करते हैं । यही नहीं हिन्दी के लोकवादी उपन्यासों की परम्परा में भी श्रीवृद्धि करते हैं । पहले के भी उपन्यासों में लोकतात्विक दस्तावेजों, लोक प्रचलित पात्रों व घटनाओं का प्रयोग किया जाता रहा लेकिन लोकगीतों, लोकगाथाओं से सामग्री ग्रहण कर उपन्यासकार जीवन दर्शन को लोकचिन्तन परम्परा के अनुरूप प्रस्तुत करने का प्रयास आचार्य द्विवेदी ने पुनर्नवा के माध्यम से किया । लोकजीवन में प्रचलित लोकगीतों, लोकसाहित्य, एवं लोकजीवन में केन्द्रित आचार्य द्विवेदी की दृष्टि लोकजीवन को नवीन रूप में देखने का प्रयास करती है । पुनर्नवा की लोकसांस्कृतिक चेतना को हम निम्नक्रमों के अन्तर्गत देख सकते हैं कि कैसे पुनर्नवा में लोकजीवन की सम्पृक्तता का स्वाभाविक चित्रण हुआ है ।

(क) पुनर्नवा और लोकजीवन की गतिशीलता

मानव जीवन के इतिहास को आचार्य द्विवेदी मात्र अभिलेखों, ताम्रलेखों, एवं प्रस्तर खंडों के संकलन में ही नहीं देखते अपितु लोक के संघर्षपूर्ण जीवन के साथ उसकी आज तक की लम्बी यात्रा को निरंतर गतिशील रूप में देखते हैं । वे उस समाज या लोकजीवन को इंगित करते हैं जिसमें विद्यमान अनेक समस्याओं का समाधान हमारे पूर्वजों ने किया होगा । अपने तीसरे उपन्यास पुनर्नवा में आचार्य द्विवेदी ने यह साबित कर दिया है कि लोकजीवन कभी भी स्थिर नहीं होता । लोकजीवन में गतिशीलता की स्वाभाविक प्रकृति और प्रवृत्ति निहित है । गतिशीलता के कारण ही लोकजीवन जीवित और प्राणसम्पन्न दिखाई देता

है । आचार्य पुरगोमिल का यह कथन है कि "अगर व्यवस्थाओं का निरन्तर परिष्कार और परिमार्जन नहीं होता रहेगा तो एक दिन व्यवस्थाएं तो टूटेंगी ही अपने साथ-साथ धर्म को भी तोड़ देंगी ।" [1] जीवित और गतिशील मानव समाज के लिए शाश्वत संदेश है । पुन: नवीन होने की पुन: प्राणवन्त होने की वेदना पूरे उपन्यास में व्याप्त है । जो उपन्यास के सभी पात्रों को बेचैन किये रहती है ।

मनुष्य और उसके द्वारा बनाए हुए विचार धीरे-धीरे बासी पड़ते जाते हैं । बासी हो जाना प्रकृति का नियम है किन्तु इस नियम को तोड़ते जाना ही सार्थक जीवन का पर्याय है । देवरात कहते हैं - "पुनर्नवा देवी तुम नित्य नवीन होकर मानस पटल पर उदित होती हो । जानती नहीं, किस मर्म वेदना को जगा जाती हो, किस बासी घाव को नया कर जाती हो । देवरात स्वयं मुरझा गया है, उसमें पुनर्नवा के स्वागत करने की क्षमता नहीं है । ··· पुनर्नवा बनकर नित्य आती हो । तुम्हारा थोड़ा सा कष्ट किसी को हरा कर जाय तो क्या हर्ज है देवि । नहीं तुम नित्य नवीन होकर पुन: पुन: नवीन होकर मेरी पुनर्नवा रानी ।" [2] देवरात महाकाल के दरबार में भी पहुँचकर शान्त नहीं हो पाते । वे स्थिति की तलाश में हैं लेकिन महाकाल तो निरन्तर गतिशील हैं । ऐसी गतिशीलता जो प्रचण्ड वेग वाली है, जो एक क्षण भी नहीं रुकने वाली है । "जो कुछ पुराना है, जीर्ण है, सड़ा-गला है, वह ध्वस्त होता जा रहा है । नवीन के निर्माण में प्रत्येक पग पर मृत्यु का तांडव दिखाई दे रहा है । काल की यह प्रचण्ड धारा कभी रुक नहीं सकती ।" [3]

"लोकमानस में शुष्क धर्माचार और रूढ़गत मान्यताओं के प्रति आज जो भावलोक का विद्रोह दिखाई पड़ रहा है उसके प्रति उपन्यासकार पूरी तरह सचेत है । और उसने उस भावलोक के विद्रोह की वास्तविकता को स्वीकार

---

1. पुनर्नवा - 173 .
2. " - 245-46.
3. " - 126-27.

करते हुए प्रगतिशील मानववादी दृष्टि का परिचय दिया है । आचार्य पुरगोमिल बदली हुई परिस्थितियों के साथ जोड़कर सामाजिक विधि व्यवस्था का जो विश्लेषण करते हैं वह उपन्यासकार की अत्यन्त जागरूक दृष्टि का परिचय देता है । मृत मान्यताओं अप्रासंगिक व्यवस्थाओं तथा नीति-अनीति की सड़ी रूढ़ियों को तोड़कर जीवन की प्रवाहमान धारा से उत्पन्न नये मूल्यों को स्वीकारने का साहसपूर्ण प्रयास इस उपन्यास में हुआ है ।" ।

अतीतकालीन समाज के पुनर्नवीकरण में आचार्य द्विवेदी तत्कालीन आचार-व्यवहारों का अति वास्तविक वर्णन प्रस्तुत करते ही हैं । वहीं तत्कालीन जीवन में प्रचलित भाषा को भी समाज और उसकी परम्परा से जोड़कर देखते हैं । शब्दों का भी अपना इतिहास होता है । शब्द समाज में ही प्रचलित होते हैं और धीरे-धीरे एक खास अर्थ में रूढ़ हो जाते हैं । द्विवेदी जी ने अपने भाषा कौशल का पूर्ण प्रयोग कर शब्दों को भी इतिहास और समाज से जोड़ दिया है । पुनर्नवा शब्द कालिदास के ग्रन्थों से ग्रहण किया गया है । उसके प्रमुख पात्र आर्यक, मैना, चंद्रा, श्यामरूप, लोकजीवन में अपभ्रंसित होकर लोरिक, मैना मांजर देई, चंदा और संवरू हो जाते हैं । इसी प्रकार अनेक शब्दों की व्याख्या कर द्विवेदी जी उन्हें इतिहास से जोड़ देते हैं । चली आ रही परम्परा में उसका विकसित व ह्रासशील रूप दिखाते हैं । इस प्रकार यह बात साफ हो जाती है कि वास्तविक शब्द को घटना या कथा में ग्रामीण लोगों ने समय के अनुसार बहुत कुछ जोड़ा घटाया होगा । इस जोड़ घटाव से उसका वास्तविक रूप गौड़ हो कर समय की चिन्ताधारा के अनुरूप बदल गया होगा । इस प्रकार उसमें पुरानेपन के साथ नयापन भी आता जाता है जो गतिशीलता एवं परिवर्तन का परिचायक है ।

---

1. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी - सं0 विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, पृ॰- 212.

(ख) पुनर्नवा एवं धार्मिक लोकविश्वास

पुनर्नवा में लोकजीवन की धार्मिक व सांस्कृतिक गतिविधि का सुन्दर जाल बुना गया है। जो पाठकों को लोकजीवन की सांस्कृतिक गतिविधियों का परिचय कराता है। इसमें ग्रामीण पात्रों को मथुरा और उज्जयिनी की विशाल अट्टालिका युक्त भवनों एवं मंदिरों में भ्रमण करते दिखाया गया है। उपन्यास का नायक लहुरावीर का उपासक है। वह छोटी सी ग्राम युवकों की मंडली लेकर लहुरावीर की जय-जयकार करता हुआ गंगा किनारे-किनारे जाता है। लहुरावीर की उपासना के बारे में सुमेर काका कहते हैं - "सुना है मथुरा के आभीरों ने नये देवता का संधान पाया है। वह वहाँ से अब नया देवता उत्तरापथ के हर घर में पहुँचता दिखाई दे रहा है।"[1] श्यामरूप मांदी की खोज में जब मथुरा में प्रवेश करता है तो वहाँ उसे अनेक देवी-देवताओं के दर्शन होते हैं। प्रसंग में लहुरावीर की जानकारी उसे मिलती है। "हलद्वीप के आभीरों में चतुर्व्यूह की पूजा प्रचलित थी। "यहाँ पांच तुष्टिवीरों को देखकर उसे आश्चर्य हुआ। चार वीर संकर्षण (बलराम) श्रीकृष्ण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध तो विश्वविख्यात हैं यह पांचवां कौन है ?"श्यामरूप के पूछे जाने पर वृद्ध ब्राह्मण उत्तर देते हैं - "कुषाण राजाओं ने यहाँ पंचध्यानी बुद्धों की उपासना चली दी।"[2]

जन-जीवन में भगवान विष्णु की अनेक रूपों में उपासना के बावजूद शैवधर्म के साथ उसका ऐक्य दिखाया गया है। नाग और आभीर शासक शैव-मतावलम्बी होते हुए भी वैष्णव धर्म के विरोधी नहीं थे। मथुरा में पंचतृष्णि वीरों की पूजा की चर्चा है तो उज्जयिनी में महाकालेश्वर मंदिर का विस्तृत वर्णन है। प्राचीन भारतीय स्थापत्यकला और तीर्थस्थल का प्रतीक क्षिप्रा तट

---

1. पुनर्नवा - पृ.- 42.
2. पुनर्नवा - पृ.- 41.

पर हर बारहवें वर्ष आज भी लोकपर्व के रूप में "सिंह पर्व" मनाया जाता है। "जिसका वर्णन कालिदास ने अपने ग्रन्थों में महाकालेश्वर की महिमा का सुन्दर वर्णन किया है।[1] इसी प्रकार बटेश्वर तीर्थ में भी तत्कालीन जन-जीवन में श्रद्धा व्यक्त की गयी है। ये उपास्य देवता आज के लोकजीवन में भी पूजित हैं।

भारतीय लोक साधना का मूल स्वर "आत्मदान" पुनर्नवा में भी मिलता है। उपन्यासकार के अनुसार "सच्चा सुख अपने आप को दलित द्राक्षा की भाँति निचोड़ कर उपलब्ध माधुर्य रस को लुटा देने में है।"[2] मंजुला भाव रूप में उपस्थित होकर देवरात को यही संदेश देती है। "तुम पाना चाहते हो ? कैसे पाओगे प्रभो ! भगवान ने तुम्हें ग्राहीता भाव दिया ही नहीं है। तुम्हारा स्वभाव देना है, लुटाना है, अपने आप को दलित द्राक्षा की भाँति निचोड़कर महाअज्ञात के चरणों में उड़ेल देना है। भारत की सामान्य जनता अन्दर के देवता को बहुत महत्व देती है। अन्तर्यामी को ही प्रमाण मानती है। देवरात मंजुला से कहते हैं "तुम्हारा देवता तुम्हारे भीतर बैठा हुआ अवसर की प्रतीक्षा कर रहा है। कोई बाहरी शक्ति किसी का भी उद्धार नहीं करती। यह अन्तर्यामी देवता ही उद्धार कर सकता है।"[3] इस अन्तर्यामी को प्रमाण न मानने के कारण गोपाल आर्यक की वीरता लोकापवाद की चट्टान से टकराकर चूर-चूर हो जाती है। वह चन्द्रा और मृणाल दोनों को छोड़कर भागा-भागा फिरता है। उपन्यासकार ने एक पात्र द्वारा यह भी स्पष्ट कराया है कि देवता न बड़ा होता है न छोटा, न शक्तिशाली होता है न अशक्त। वह उतना ही बड़ा होता है जितना शक्तिशाली उसे उसका उपासक बनाना चाहता है। तात्पर्य यह कि देवता को उपन्यासकार आत्म बल के रूप में मानता है। अपने पात्रों

---

1. पुनर्नवा - पृ. 128.
2. पुनर्नवा - पृ. 130.
3. पुनर्नवा - पृ. 22.

जो उपासना देवी देवताओं की कराई है वह मात्र लौकिक वातावरण के निर्माण के लिए ही ।

(ग) पुनर्नवा एवं लोक मनोरंजन के विविध आयाम

लोकजीवन के सांस्कृतिक पहलू को व्यक्त करने के लिए लोक-प्रचलित मनोविनोद, नृत्य, गीत, जलक्रीड़ा आदि का वर्णन भी पुनर्नवा में पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है । हलद्वीप के सरस्वती विहार में नृत्य गीत के साथ अक्षरयुक्त, बिन्दुमती प्रहेलिका आदि की प्रतियोगिताएं चलती हैं । शास्त्रार्थ के साथ देश-विदेश के पहलवानों की कुश्तियां भी होती हैं । लौकिक वातावरण के निर्माण हेतु पुनर्नवा में प्राकृत के कई दोहों व लोकगीतों का प्रयोग किया गया है । इनमें से कुछ की रचना आचार्य द्विवेदी ने स्वयं की हो तो आश्चर्य नहीं । ग्राम भाषा में प्रचलित छन्द विरह गीत (बिरहा) को

"दुल्लह जण अणुराउ गरू लज्जु परबसु प्राणु ।
सहि मणु विषम सणेहु बसु मरणु सरणु णुह आणु ॥ [1]

को मंजुला द्वारा गवाया गया है । देवरात भी एकान्त में इस दोहे को कई बार गुनगुनाते हैं । आचार्य पुरगोभिल द्वारा चंद्रा श्रीचन्द के व्यवहार चर्चा के समय ग्रामीण स्त्रियों द्वारा गाया गया गीत लोकजीवन को अधिक सशक्त ढंग से व्यक्त करता है । रेभिल भी जो क्षेपक सुनाता है वह लोरकी छंद आज के लोकजीवन में प्रचलित लोरकी छन्द है । कथक गीत का प्रयोग भी सुन्दर बन पड़ा है ।

लोक जीवन में लोग नाच, गान और उत्सवों का आनन्द जमकर लिया करते हैं । उत्सवों में समय-समय पर गणिकाओं का नृत्य भी होता है ।

---

1. पुनर्नवा - पृ. 16-17.

पुनर्नवा की नगर श्री मंजुला भी राजकीय उत्सवों पर अपना नृत्य कौशल दिखाया करती थी । लोकजीवन में लोकनृत्यों का भी अपना महत्वपूर्ण स्थान होता है । ये लोकनृत्य अलग-अलग जातियों के भिन्न-भिन्न होते हैं । आभीर (अहीर) जाति में युवतियों के नृत्य का प्रचलन आज भी है । इसका बड़ा सुन्दर वर्णन पुनर्नवा में किया गया है । "बिना पूछे ही अमात्य पुरन्दर ने बताया कि कोई आभीर महिलाओं की मंडली जान पड़ती है । ऐसे उद्धाम मनोहर नृत्य उन्हीं की मंडली किया करती है ।"[1]

नाच और गान के साथ ही लोकजीवन में अनेक उत्सव और त्योहार भी प्रचलित होते हैं । बसन्त के आने पर भारतीय लोकांचल आह्लाद और उल्लास से नाच उठता है । मदन पूजा, आदि उल्लास पूर्ण विनोदों से समग्र लोकजीवन ही आन्दोलित हो उठता है । अन्तःपुर से लेकर गरीब किसान की झोपड़ी तक नृत्य-गीत की मादकता में बह जाती है । पुनर्नवा में बसंतोत्सव का संकेत है । बसन्तोत्सव के वर्णन की परंपरा कालिदास से लेकर अधुनातन भारतीय साहित्यकारों तक रही है । बसन्तोत्सव को हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लोकजीवन में प्रचलित बसंत पंचमी और मदनोत्सव को बहुप्रचलित उत्सव होली का प्राचीन रूप कहा है । मदनोत्सव की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा है कि - "प्राचीन ग्रन्थों से जान पड़ता है कि मदनोत्सव फागुन से लेकर चैत्र के महीने तक मनाया जाता था । इसके दो रूप होते थे - एक सार्वजनिक धूमधाम का और दूसरा अन्तः-पुरिकाओं के परस्पर विनोद और कामदेव के पूजने का ।"[2] पुनर्नवा में इन दोनों का वर्णन इतने मनोहर और सजीव ढंग से अंकित है कि उस उत्सव का अनुमान लगाने के लिए उससे अधिक उपयोगी और कोई वर्णन नहीं हो सकता ।

मल्लविद्या लोकजीवन की अति प्राचीन विद्या है । लोकजीवन में आज भी उसका कुछ न कुछ गौरव अवशिष्ट रह ही गया है । मल्लों की प्रति-

---

1. पुनर्नवा - पृ. 157.
2. ह0प्र0 द्विवेदी - प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद, पृ. 112.

स्पर्धी कुश्ती लोगों के मनोरंजन का प्रमुख साधन थी । "भारत के विराट पर्व में भीम और जीमूत नामक मल्ल की कुश्ती का बहुत ही हृदयग्राही चित्र दिया हुआ है । दर्शकों से भरी हुई मल्ल रंगशाला में भीम बलशाली शार्दूल की भाँति शिथिल गति से उपस्थित हुए । ··· रंगशाला में प्रवेश करके उन्होंने पहले मत्स्यराज को अभिवादन किया ।" पुनर्नवा में भी "एक दिन चण्डसेन के आमंत्रण पर विशाल मल्ल प्रतियोगिता का आयोजन हुआ । उस दिन राजा के साले भानुदत्त के प्रसिद्ध मल्ल मागू की शार्दिलक से भिड़न्त थी । मागू मद्र देश का बहुत ही नामी महलवान था । ··· दोनों पहलवान अखाड़े में उतरे भूमि बन्दना करके दोनों ने अपने अन्नदाताओं को प्रणाम किया और गुँथ गये ।" [1]

(घ) पुनर्नवा एवं लोकजीवन में नारी

पुनर्नवा के स्त्री पात्रों को एकदम लोक रंग में रंगकर प्रस्तुत किया है । "आचार्य द्विवेदी के उपन्यासों में प्रेम की जो धार प्राप्त करता है, वह धार स्त्री से बहुत निचले तबके से आती है । यह आकस्मिक नहीं कि संत साहित्य के प्रेमी यानि कबीर, रैदास आदि का साहित्य पढ़कर जिस आचार्य ने समझा था कि समाज की इस विषम अवस्था में प्राय: इन्सानियत जिसे कहते हैं वह मानव-वाद और मानवमूल्य अक्सर उन लोगों में सुरक्षित होते हैं जो समाज में सबसे छोटे समझे जाते हैं । सबसे पतित समझे जाते हैं ।" [2] भारतीय लोकजीवन की नारी निश्चय ही पतित है ।

लोकजीवन में लड़की के विवाह की समस्या एक प्रमुख समस्या है । बेटी मृणाल मंजरी के सयानी हो जाने के कारण देवरात चिन्तित दिखाई देते हैं । कोई भी पिता लड़की को किसी सुयोग्य पात्र के हाथ में सौंपकर की निश्चित हो सकता है । विवाह के सम्बन्ध में लड़की के मन को भी जानना अति आवश्यक

---

1. पुनर्नवा - पृ॰ 70
2. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी संगोष्ठी संकलन में नामवरसिंह का अध्यक्षीय भाषण, पृ॰ 68.

होता है । "देवरात चिन्तित दिखाई देने लगे । बेटी सयानी हो गयी । उसे सुयोग्य वर के हाथ सौंपकर ही वे निश्चित हो सकते थे । पर सुयोग्य पात्र कहाँ मिले ?" [1] प्राय: ही लोकजीवन में अनमेल विवाह हो जाया करते हैं । पुनर्नवा में श्रीचन्द और चन्दा का विवाह इस बात का उदाहरण है । श्रीचन्द में पुंसत्व है ही नहीं । चन्दा के साथ उसका विवाह चन्दा के पिता ने उसकी इच्छा के विरुद्ध ही कर दिया । ऐसी स्थिति में नारी का पर-पुरुष की ओर आकर्षित होना स्वाभाविक होता है । वह समाज में कलंकिनी ही समझी जाती है । "हलद्वीप के प्राय: सभी लोग चन्दा को चरित्रहीन नारी कहते थे । वह किसी और की व्याहता बहू है । अपने पति को छोड़कर वह आर्यक के पीछे लग गई । यह धर्म के विपरीत आचरण था ।" [2]

लोकजीवन में दो हृदयों के प्रेम में धर्म निश्चय ही बीच की दीवार स्वरूप आता है । लेकिन लोकचरित्रों में ही यह दम होती है कि वे इस दीवार को ढहा सकें । पुनर्नवा के "चन्दा" वाला प्रेम लोकजीवन के अतिरिक्त कहीं और नहीं मिल सकता । प्रेम से वैसी निपुणता, सहनशीलता, वेदना और पीड़ा को सहने की ताकत वैसी दृढ़ता और संयम लोकजीवन में ही दिखाई पड़ सकता है । लौकिक प्रेम में ही वह शक्ति है "जो धार्मिक और सामाजिक रूढ़ियों को काटती तोड़ती है । ... यह प्रेम जिसे आप सुविधा के लिए कहते है कि उस सामंत विरोधी रूप में आता है जिसमें सूफियों का प्रेम प्रकट हुआ है । जहाँ मजहब की कठोर दीवारों को प्रेम का तीर तोड़ता है । यह भक्त का प्रेम था जिसने सामाजिक बंधनों और रूढ़ियों को तोड़कर विद्रोह किया । इसलिए यह प्रेम बराबर आप देखेंगे कि तमाम पुरानी रूढ़ियों, धार्मिक कर्मकाण्डों प्रथाओं के विरुद्ध है । पुनर्नवा में यह स्पष्ट कहा गया है कि जब महामात्य और धर्माचार्य बैठकर विचार कर रहे हैं कि क्या व्यवस्था करनी चाहिए तो उस समय गुरूदेव कहते हैं कि "हे तात यदि धर्म की आप नई व्यवस्था नहीं करेंगे और उस स्वच्छन्द

---

1. पुनर्नवा - पृ. 31.
2. पुनर्नवा - पृ. 152.

प्रेम के लिए जो गली-गली गूँज रहे हैं इनका समावेश आप नहीं करेंगे तो धर्म भी टूटेगा हम आप भी टूटेंगे ।" [1] चन्द्रा का प्रेम प्रसंग इस उपन्यास को इतना जीवंत और प्रासंगिक बना देता है कि सचमुच उसका "पुनर्नवा" नाम सार्थक हो जाता है । "गणिका होकर भी जो साहस मंजुला नहीं कर सकी वह साहस कुलांगना होकर चन्दा कर बैठी । इस उद्दाम प्रेम का निदर्शन खोजना कठिन है ।"[2] ऐसी लोकजीवन की उद्दाम यौवन लालसा का चित्रण अन्य उपन्यासों में दुर्लभ है ।

नटमंडली में विद्यमान लोकजीवन के विशेष तबके की वे नारियाँ हैं । जो अनेक हाथों में खरीदी बेची जाकर इस प्रकार की मंडलियों में शामिल हो जाया करती हैं । वे स्पष्ट तया जानती हैं कि समाज में उनका स्थान ऊँचा नहीं है । वे दासी अथवा गणिका बनकर उदर पोषण करने को विवश हैं । अत: "जाहि विधि राखे राम ताहि विधि रखिए" की स्थिति में ये स्त्रियाँ संतोष मानकर वर्तमान में संतोष करने को विवश होती हैं । परिस्थितियों ने उन्हें उद्दंड, मुखरा बना दिया है तो भी इनका मन नारी सुलभ ममता, दया से सर्वथा रिक्त नहीं है ।

वेश्या या गणिका भारतीय समाज में सामन्तवादी व्यवस्था की देन है । जो अत्यधिक प्राचीन काल से समय-समय पर अपने स्वरूप और उद्भव श्रोतों में परिवर्तन के साथ चली आ रही हैं । वेश्या या गणिका का कार्य नीच, पतित और जघन्य है इस बात को सभ्य समाज मानता है । लेकिन पुनर्नवा में इस तरह के पात्रों को सम्पूर्ण जीवन के एक अंग के रूप में देखा गया है । जीवन के यथार्थ के प्रति इस आग्रह के ही कारण इस उपन्यास में न तो उन्हें दुष्टा अथवा पतिता के रूप में देखा गया है न तो उन्हें वेश्यावृत्ति अपनाने के कोई पूर्व निश्चित कारण बताए गये हैं । यहीं तक नहीं इस उपन्यास में आचार्य द्विवेदी ने गणिकाओं को समाज में प्रतिष्ठित नारियों की तुलना में श्रेष्ठ घोषित किया है । जो इस

---

1. नामवर सिंह - संगोष्ठी संकलन आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ॰- 68 का अध्यक्षीय भाषण
2. पुनर्नवा - पृ॰-273 .

दिशा में एक क्रान्तिकारी कदम कहा जा सकता है । आचार्य देवरात मंजुला में अपनी पत्नी शर्मिष्ठा की प्रतिमूर्ति देखते हैं । मंजुला भी देवरात के प्रति उनकी साहित्यिक मर्मज्ञता, सहृदयता और विद्वता के कारण आकर्षित होती है । देवरात के लिए वह दिव्य जगत की नारी नारायण की स्मित रेखा के समान है ।

इस प्रकार द्विवेदी जी ने भारतीय संस्कृति पर प्रश्नचिह्न लगाया है । सामन्तवादी संस्कृति ने शक्ति तथा नारी के मूल्यों का अवमूल्यन कर नारी को विषय वासना का साधना बना लिया था । अनिन्द्यसुन्दरी और देवोपम गुण वाली को सामन्ती विलास में अपनी पशु-सुलभ वासना को तृप्त किया था लेकिन आचार्य द्विवेदी ने इसमें एक नया मोड़ दिया है । "पुनर्नवा स्त्री की लघुता, संकल्पहीनता और विवशता की कहानी नहीं है वह उनकी विराट संभावनाओं की कहानी है ।" [1]

(च) पुनर्नवा में वस्त्राभूषण एवं खान-पान

संस्कृति एवं सभ्यता के नियामक तत्वों में वस्त्राभूषण एवं खान-पान का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है । कबीर, सूर, तुलसी, जैसे महाकवियों ने भी स्त्री पुरूषों के वस्त्रों, आभूषणों एवं खान-पान का वर्णन किया है । पुनर्नवा में भी जहाँ एक सीमा तक स्त्री, पुरूषों आदि के परम्परागत वस्त्राभूषणों का वर्णन हुआ है वहाँ साथ ही समसामयिक साज-सज्जा, बनावट व रंगों का भी उल्लेख हुआ है । मंजुला द्वारा जो एक प्रतोलिका आचार्य देवरात को सौंपी गयी होती है उसमें कुछ गहनों का उल्लेख जो आज के लोकजीवन में प्रचलित गहनों से मिलते-जुलते हैं । गहने रखने के लिए जिस विशेष पेटिका का प्रयोग होता है उसका भी जिक्र पुनर्नवा में है । "पत्र के नीचे लाक्षारंजित रूई के कोमल परत थे ।

---

1. डॉ० उमा मिश्रा - डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी का उपन्यास साहित्य एक अनुशीलन, पृ०-292.

पहिले परत के नीचे एक मुक्तादाम था मोतियों का एकलाहार, उसके नीचे पद्मराग, मढ़ि जड़ी हुई मुद्रिका थी जो हाथी दांत के कंकणों और शंक के बने वलयों के बीच में रखी हुई थी । उसके नीचे दो शिरीष पुरूष की आकृति के कर्णावितंस थे, जो महीन हेमगुणों के हार के बीच रखे हुए थे । एक हाथी दांत की डिबिया में पीला सिन्दूर भी रखा हुआ था ।"[1] इस प्रकार लोक-जीवन पारम्परिक स्त्री आभूषणों की बड़ी सुन्दर माला पेश की गयी है । गले का मोतियों का हार मुद्रिका या अंगूठी, कानों में पहने जाने वाले कर्णफूल, सिन्दूर आदि लोकजीवन में ही पहने जाने वाले अलंकारों का सम्यक विवेचन किया गया है ।

भारतीय नारी का मुख्य परिधान साड़ी है । जो शुभ, विविध रंगों वाली या रत्नजटित भी हो सकती है । इसका वर्णन प्राचीन भारतीय साहित्यों में भी मिलता है । सूरसागर में तो लाल, बसंती, कुसुमी तथा पंचरंगी साड़ियों का उल्लेख स्पष्ट शब्दों में है । सम्भवत: पूरे भारत में साड़ी का प्रचलन प्राचीन काल से ही रहा है । पुनर्नवा में भी साड़ी का जिक्र आया है । मृणाल मंजरी जब देवरात से मिलने जाती है तो उसके शरीर पर स्वच्छ साड़ी विद्यमान होती है । साथ ही साथ हाथ में सोने का कंगन [2] चंद्रा एक बहुत साधारण हल्की नीली साड़ी पहने हुए थी । अलंकार के नाम पर हाथ में सोने का कंगन था ।[3] इसी प्रकार पुरूषों के पहिनावे का भी वर्णन है । मादव्य शर्मा के कंधे पर एक पीला उत्तरीय था और कमर में पंचकक्ष अधोवस्त्र बँधा हुआ था ।[4] चन्द्रमौलि कौशेय उत्तरीय और कौशेय अधोवस्त्र पहिने हुए थे । उत्तरीय को चुन्नर से सजाया गया था ।"[5] इसी के साथ लाक्षारस रंजित शुभ वस्त्रादि का भी वर्णन है । पहनावे के अतिरिक्त पुनर्नवा में खान-पान का

---

1. पुनर्नवा - पृ.-33.
2. " - पृ.-20 .
3. " - पृ.-124.
4. " - पृ.-64.
5. " - पृ.-65.

भी जिक्र है । मथुरा के वृद्ध ब्राहमण हलका-फुलका भोजन श्यामरूप के लिए जुटाते हैं । धूता देवी आर्यक के लिए सोने चांदी के बर्तनों में खाना परोसती हैं । इसी प्रसंग में आर्यक अन्नपूर्णा देवी के मन्त्र का ध्यान करता है । उच्चकुल या राजपरिवारों सोने या चांदी के बर्तनों का उल्लेख हुआ है जो कि वास्तविक हैं ।

"पुनर्नवा में तत्कालीन लोक-जीवन का पर्याप्त चित्रण है । उस समय के समाज में चावल-दाल आदि के साधारण भोजन और मदिरा पीने का प्रचलन था । जलपान में फल-फूल प्रस्तुत करना आतिथ्य सत्कार, धूता का आर्यक को (भाभी का देवर को) सामने बैठाकर भोजन कराने का उल्लेख भी आया है । मंजुला के नृत्य प्रसंग, मृणाल की सज्जा, मंजुला द्वारा आभूषणों का त्याग आदि द्वारा नारियों की वेश-भूषा का संकेत दिया गया है । वसन्तोत्सव, मल्ल प्रतियोगिता, पशु-पक्षियों की प्रतियोगात्मक लड़ाइयों, गोवर्धन-लीला, मृणाल का विवाहोत्सव, शार्विलक और मांदी के विवाहोत्सव पर भोजपत्र या कुसुमराग से लिखित निमंत्रण पत्र का वितरण आदि द्वारा तत्कालीन पर्वों त्योहारों का चित्रण किया गया है ।" [1]

इस प्रकार पुनर्नवा में तत्कालीन लौकिक परिस्थितियों, विशिष्टताओं एवं लोक सांस्कृतिक परम्पराओं के चित्रण के साथ ही लोकसंस्कृति के मूल तत्वों का विवेचन करते हुए उसके व्यापक स्वरूप का उसकी श्रेष्ठता का भी प्रतिपादन किया गया है । लोक संस्कृति के व्यापक स्वरूप का चित्रण करते हुए उसके सभी तत्वों का समर्थन करते हुए एक विशिष्ट जीवन दर्शन का प्रतिपादन किया गया है । पुनर्नवा के माध्यम से "आचार्य द्विवेदी ने पुनर्नवा में इतिहास की आधार भूमि पर कल्पना के विविध रंगों से सजाते हुए चतुर्थ शताब्दी के गुप्तकालीन भारतीय वातावरण को साकार उपस्थित कर दिया है ।[2]

---

1. डॉ0 बादाम सिंह रावत (सं0) - उपन्यासकार हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ॰- 34-35.
2. डॉ0 धनप्रकाश मिश्र - पुनर्नवा प्रकाश, पृ॰ 81.

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि पुनर्नवा के सम्पूर्ण संस्कारों, गतिविधियों, सोचने के ढंगों, क्रिया-कलापों, कलात्मक प्रयासों, धार्मिक सांस्कृतिक क्रियाओं आदि समस्त कार्यों के पीछे जो चेतना काम करती है वह लोक सांस्कृतिक चेतना ही है। यह चेतना किसी से अभीभूत नहीं है अप्रभावित और निष्कलुष है। अपने अच्छे बुरे रूप में प्रस्तुत भी हुई है। न जाने कितने युगों से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को दाय स्वरूप प्राप्त यह चेतना लोकजीवन की सही पहचान है। इसी पहचान को समझने और परखने का उपक्रम पुनर्नवा की मूलभूत आकांक्षा है। पुनर्नवा हमें लोकसंस्कृति की क्षमता से परिचय कराता है और पुन: भारतीय लोकसंस्कृति की मूल चेतना से जोड़ता है। ऐसा करते हुए वह जटिल तथा दुरूह अभिजात संस्कृति के घिरे हुए जीवन से उन्मुक्त शुभ लोकजीवन का आदर्श उपस्थित करता है।

****

अध्याय - 2

पुनर्नवा के कथा तत्व एवं घटना योजना में लोकतत्वों की स्थिति

(क) पुनर्नवा का कथा तत्व

उपन्यास की रीढ़ कथावस्तु अथवा कथानक है । इसी के आधार पर विभिन्न घटनाओं का विस्तार तथा मुख्य कथा के साथ गौण कथाओं का विकास होता है । पुनर्नवा की कथावस्तु में भी लोकजीवन एवं उसकी गति-विधियों को लेकर विभिन्न लोकसांस्कृतिक प्रवृत्तियों को रूपायित किया गया है । लौकिक वातावरण के माध्यम से लौकिक अनुभूति को गहराई से व्यंजित करने के लिए लोकजीवन की विभिन्न गतिविधियों को श्रृंखलाबद्ध कर कथानक का रूप दे दिया गया है, जिसमें लोकजीवन से सम्बन्ध रखने वाली एक लोकगाथा (लोरिकायन) की प्रमुखता है । इस उपन्यास में कथानक की मूल कथा का रूप लोरिक चन्दा की लोकगाथा ही ले लेती है क्योंकि लोकगाथाओं का सम्बन्ध लौकिक संस्कारों एवं सांस्कृतिक गतिविधियों से सीधे जुड़ा होता है । विषय की दृष्टि से लोक परिवेश, स्थानीय जीवन जिसके अन्तर्गत कथानक विस्तार पाता है, लौकिक दृश्य चित्रों की भरमार रहती है लेकिन ये दृश्य कथानक को और रूपायित करने में सहायक होते हैं, कथावस्तु की स्वतन्त्र सत्ता के रूप में नियोजित नहीं होते बल्कि विषय वस्तु को लौकिक परिवेश तथा घटनाओं के विभिन्न वातावरणों द्वारा गति प्रदान करते हैं । इस प्रकार विभिन्न दृश्य चित्रों के सूत्रबद्ध होने से जहाँ लोकजीवन अपनी सम्पूर्ण सत्ता के साथ प्रतिबिम्बित होता वहीं मुख्य कथानक को विकास की विभिन्न भंगिमाओं के साथ संस्कारित भी करता है ।

पुनर्नवा की कथा "लोरिकायन" के आश्रय से विकसित होकर वास्तविक आधुनिक कथा की पृष्टिभूमि प्रदान करती है। लोककथा, लोक-रीति और परंपरा प्राप्त प्रवादों के आधार पर लोकसांस्कृतिक जीवन की कथा को आधुनिक परिप्रेक्ष्य में रूपायित करने का कौशल जैसा "पुनर्नवा में दिखाई पड़ता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। लोकगीतों, लोकोक्तिओं प्रतीकात्मक तथा दोहरे अर्थ व्यंजित करने वाले नाम आदि के संगुम्फन द्वारा लेखक ने जिस कथा का निर्माण किया है उसके अध्ययन से लोकवार्ता में लेखक की गहरी जानकारी का पता चलता है। पुनर्नवा का मुख्य कथानक लोकतात्विक चेतना से युक्त होने के साथ ही लोक परम्परा द्वारा ग्रहीत कथानक से विकसित हुआ है। इसकी कहानी कहने की औपन्यासिक कला लोकजीवन पर इतनी ज्यादा निर्भर हो जाती है कि कथा वस्तु का विकास अत्यन्त स्वाभाविक गति से होता है।

"लोरिकायन" पूर्वी उत्तर-प्रदेश और पश्चिमी बिहार के अहीरों की लोकगाथा है। आज भी इन क्षेत्रों के अहीर अपनी इस लोकगाथा को संभालकर ले चल रहे हैं। "आज यह आभीर (अहीर) गाथा और आभीर लोक-गीत ही पूर्वी उत्तर प्रदेश के पुरूष वर्ग की लोकसंस्कृति का प्रतिनिधित्व करते हैं। ... हरियाना से लेकर बिहार तक इस लोरकथा या लोरिक गाथा के भिन्न-भिन्न "काट" या आकार गाये जाते हैं।"[1]

लोरिक गाथा के कई अंशों को लेकर मौलाना दाउद ने सोलहवीं शताब्दी में "चन्दायन" नामक प्रेमकाव्य की रचना की। इसमें लोरिक और चन्दा के प्रेम की कहानी है। यह काव्य पद्मावत और मधुमालती आदि सूफी काव्यों की परम्परा में प्रथम स्थान रखता है। इसमें कहीं भी दार्शनिकता का लेशमात्र नहीं है। यह शुद्ध रूप में मानुषी प्रेम की कथा है। बंगला में इसी कथा को कवि दौलत काजी ने "सती मैना ओ लोर चन्दानी" नाम से लिखा है।

---

1. डॉ० कुबेरनाथ राय - पर्णमुकुट, पृ०- 29.

"पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी ने पुनर्नवा में इसी कथा के एकांश को श्यामरूप (संवरू) गोपाल आर्यक (गोपालार्यक अर्थात लोरिक) का प्रसंग लाकर अन्तर्मुक्त किया है एवं कथा को एक नयी ऐतिहासिक संवेदना से सम्पृक्त कर दिया है।"[1] डॉ० उमा मिश्रा का मत है कि "पुनर्नवा" की कथा का मुख्य आधार लोरिक चन्दा की प्रचलित लोककथा है। और लहुरावीर सम्बन्धी किंवदन्तियां हैं।"[2]

रामायण के ढंग से इस लोकगाथा का नाम भी "लोरिकायन" पड़ गया है। गायक इसे रामायण से भी वृहद मानता है। वह कहता है "बारह खंड रमायन त चउदह खंड लोरिकायन" "अहीर जाति का यह जातीय काव्य है। चौदह खंड तो एक व्यंज्जना है। वस्तुत: चार खंड में यह लोकगाथा गाई जाती है। यह गाथा एक प्रकार से वीर काव्य है जिसका नायक लोरिक है। दुष्टों को मारकर शान्ति स्थापन करना ही लोरिक का मुख्य उद्देश्य रहा है। उसकी वीरता, उसका प्रेम अहीरों के लिए गर्व की वस्तु है।"[3] लोरिक गाथा के संपादन का कार्य कई विद्वानों ने किया है। थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ दोनों की कथा एक जैसी है। डॉ० श्याम मनोहर पाण्डेय ने इसका संपादन "लोरिकी" नाम से किया है। जो काफी प्रामाणिक और शुद्ध माना जाता है केसरी किशोर ने इसे लोरिकायन नाम दिया है। इन ग्रन्थों के आधार पर लोरिकायन की कथा संक्षेप में इस प्रकार है -

(क) (लोरिकायन के सम्पूर्ण कथा चक्र में संवरू का विवाह, लोरिक मंजरी विवाह, लोरिक चनमा का विवाह जिसे चनवां का उद्धार भी कहते हैं, और लोरिक यमुनी का विवाह, चार खंड हैं। इसके अतिरिक्त लोरिक के जन्म और मृत्यु के प्रसंगों का भी इसमें समावेश है। सभी खंडों में प्रेम, वीरता, साहस और शौर्य के अनेक अतिमानवीय कृत्यों का उल्लेख है।)

---

1. डॉ० कुबेरनाथ राय - पर्णमुकुट, पृ०- 29.
2. डॉ० उमा मिश्रा - डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी के उपन्यास साहित्य एक अनुशीलन, पृ०- 157.
3. डॉ० सत्यव्रत सिन्हा - भोजपुरी लोकगाथा, पृ० - 46.

लोरिकायन का नायक लोरिक अहीर जाति का नवयुवक है । उपनायक के रूप में लोरिक का बड़ा भाई संवरू है जो कि एक महान मल्ल है । उसे लोरिकायन में कहीं-कहीं मल सांवर भी कहा जाता है । लोरिक को चनवाँ नामक एक सुन्दरी यह कहकर अपमानित कर देती है कि "गाँव की लड़कियों पर क्यों रंग डालते हो । दम हो तो भाई की शादी करो और भौजाई के साथ रंग खेलो । लोरिक को यह बात लग जाती है । वह संवरू की शादी करने की बात ठान लेता है । लेकिन समस्या यह है कि संवरू साधु स्वभाव का होने के नाते शादी नहीं करना चाहता । खैर किसी तरह संवरू को शादी के लिए तैयार हो जाना पड़ता है ।

"लोकगाथा में लोरिक को हनुमान का अवतार माना गया है जिसका जन्म आपत्तिग्रस्त दीन-दुखियों और अबलाओं की रक्षा के लिए हुआ था ।"[1] वास्तव में लोरिक मध्यकालीन लोकमानस में व्याप्त समस्त वीर भावना का प्रतीक है । संवरू लोरिक का उसके माँ-पिता द्वारा पाला हुआ भाई है । संवरू का गुरू मितारजइल एक बार अपनी ससुराल गया । वहाँ के राजा के पुत्र माहिल द्वारा अखाड़े में पछाड़ दिये जाने पर उसने माहिल की बहन सतिया का विवाह संवरू लोरिक में से किसी एक के साथ कर माहिल का अभिमान चूर्ण करने गौरवपूर्ण बात कही । वह विवाह संवरू के साथ होना तय हुआ जिसको सम्पन्न करने के लिए संवरू, लोरिक, ऊजई धोबी, बाँठा चमार, सुर्जन डोम आदि को लोहे के चने चबाने पड़ते हैं । अन्त में संवरू और सतिया का विवाह सम्पन्न होता है और बारात वापस गउरा आती है । लोरिकायन कथा चक्र में यह प्रसंग "संवरू का विवाह" नाम से प्रख्यात है ।

---

1. डा० सत्यव्रत सिनहा - भोजपुरी लोकगाथा, पृ०-72.

कथा का दूसरा चरण मुख्यतया आगोरी से सम्बन्ध रखता है । आगोरी का राजा मोलागत अत्याचारी, आततायी और लम्पट है । दिन-रात, सुरा-सुन्दरी में ही डूबा रहता है । वहाँ जब महरा के घर मंजरी का जन्म होता है तो सोने-चांदी की वर्षा होती है । यानि लड़की अत्यन्त सुन्दर और सुलक्षणा है । मोलागत महरा से यह कहवा दिया कि जब लड़की सयानी होगी तो वह उससे शादी करेगा । मंजरी के सयानी होने के साथ महरा को भी चिन्ता सताने लगती है । वह अपनी जाति और कुल की रक्षा करने के लिए कृतसंकल्प है पर जाति और धर्म की रक्षा के योग्य अहीर कुल का लड़का उसे मिलता ही नहीं है । उद्विग्न होकर वह तलवार से मंजरी की हत्या कर देना चाहता है । मंजरी भी मर जाने का कई बार असफल प्रयास करती है । अन्ततः मंजरी की महरा को सलाह देती है कि वह गउरा के लोरिक के पास प्रस्ताव भेजे । लोरिक जातीय सम्मान और एक कन्या के मान की रक्षा के लिए अगोरी विवाह करने चल देता है । वहाँ वह मोलागत की सेना को पराजित करता है और मंजरी के साथ गउरा वापस चला आता है । लोरिक अगोरी में एक हाथी को भी मारता है । कथा से पता चलता है कि यह हथिनी पूर्व जन्म में लोरिक की बहन लगती थी । किसी शाप बश इस जन्म में उसे मानव से हथिनी बनना पड़ा । "इस प्रसंग में लोरिक का साहस और शौर्य पूरी तरह से उभर कर सामने आते है ।" ।

कहानी का तीसरा खण्ड बहुत ही रोमांचक है । संवरू के विवाह और अपने विवाह में उसे भयंकर लड़ाइयों का सामना करना पड़ता है । इन लड़ाइयों के बाद वह थोड़ा विश्राम करता है । इसी बीच सहदेव की लड़की चनवां जिसकी चर्चा पहले ही आ चुकी है । वह लोरिक और मंजरी के जीवन में खलल बनकर आती है । चनवां का विाह सिलहट के शिवधर के साथ हुआ था । शिवधर पार्वती के शाप से पुंसत्व खो बैठा था । पति की नपुंसकता से चनवां अत्यन्त दुःखी रहने लगी । उसने अपने मायके जाने का निश्चय किया तो उसकी सास ने उसे बहुत सम-

---

।• डॉ० ज्ञानचन्द शर्मा - चन्दायन का सांस्कृतिक परिवेश, पृ•-3.

झाया पर वह न मानी । अतृप्त कामाग्नि ने संतप्त चनवां को वहाँ से भाग खड़ी होने को मजबूर कर दिया । इसी बीच चनवां के पिता से राय रूप चन्द की लड़ाई हो गयी । जिसमें चनवां के पिता के कई बीर मारे गये । अन्ततः लोरिक को बुलाया गया । लोरिक से वीरता पूर्वक रूपचन्द की सेना का विध्वंस कर दिया । रूपचन्द्र की सेना भाग खड़ी हुई । विजेता लोरिक को हाथी पर चढ़ाकर नगर में जुलूस निकाला गया । अपने भवन की छत से चनवां लोरिक के रूप को देखकर मूर्च्छित हो गयी । विजय के उपलक्ष्य में चनवां के पिता ने एक भोज किया । खाना-खाने के समय ऊपर से लोरिक की थाली में एक पान का बीड़ा आकर गिरा । लोरिक ने अपनी निगाह ऊपर की । वह भी चनवां के रूप को देखकर मूर्च्छित हो गया । इसके बाद चौथा खंड आरम्भ होता है ।

चनवां और लोरिक एक दूसरे के प्रेम में पागल थे । एक दिन लोरिक ने एक बड़ा सा रस्सा तैयार किया । उसने रात में उस रस्से को चनवां के महल की खिड़की पर कई बार फेंका । आवाज से चनवां जाग गई । नीचे लोरिक को देखकर वह अपार खुश हुई । कई बार तो उसने रस्से को मज़ाक वश छोड़ दिया परन्तु आखिर में उसने रस्से को खिड़की से बांध दिया । रस्से के सहारे लोरिक चनवां के शयनागार में पहुँच गया । कुछ परस्पर वार्तालाप के पश्चात् दोनों एक दूसरे के प्रति समर्पित हो गये । मंजरी ने लोरिक से रात में गायब रहने के बारे में पूछा तो वह बहाना बनाकर टाल गया । लोरिक और चनवां बहुत दिनों तक छुप-छुप कर एक दूसरे से इसी प्रकार रोज मिलते रहे । कुछ दिनों के बाद इस रहस्य का पर्दाफाश हो गया । चनवां गर्भवती हो गई । लोकमर्यादा की रक्षा के लिए चनवां ने लोरिक को कहीं भाग जाने के लिए प्रेरित किया । अपनी पत्नी की उपेक्षा करके लोरिक एक रात चनवां के साथ भाग निकला । मार्ग में अनेक बाधाओं को पार करते हुए शत्रुओं को पराजित करते हुए वे हरदी पहुँचे । हरदी में उसे जमुनी कलवारिन से भेंट हुई । यहाँ भी उसे नई विपत्ति का सामना करना पड़ा जमुनी उसपर मोहित हो गई । उसने लोरिक को खूब शराब पिलाकर अपने ही यहाँ रात में शयन कराया । अन्त में जमुनी भी उसकी पत्नियों में से एक हो गयी ।

लोरिक के हरदी चले जाने पर गौरा में मंजरी अपने पति के वियोग में दु:ख के दिन काट रही थी । उन्हीं दिनों जग्गू बनजारा हरदी की ओर व्यापार के लिए जाने वाला था । मंजरी ने जग्गू से अपनी विरह कथा को कह सुनाया ताकि वह लोरिक से उसकी दशा बतला सके । हरदी में ही जग्गू बनजारा से लोरिक को ज्ञात होता है कि चनवां के पिता तथा अन्य लोगों ने संयुक्तरूप से संवरू पर आक्रमण कर उसे मार डाला है । उसकी मां तथा उसकी पत्नी अत्यन्त विपन्न अवस्था में दिन काट रही है । दूसरे के घर की चाकरी करके उन्हें जीवन यापन करना पड़ रहा है । परिवार की दारूण दशा सुनकर लोरिक दुखी हुआ । तत्काल घर लौटने को तैयार हो गया । चनवाँ ने विवलित करना चाहा लेकिन उसने उसकी एक न सुनी । अगले ही दिन चनवां और जग्गू के साथ वह वहाँ से कूच कर गया । चलकर वह बोहा आया । वहाँ से गउरा की स्थिति का पता लगाया । अपनी पत्नी के सतीत्व की परख करने के बाद गउरा आ गया । अबतक मंजरी से एक पुत्र भोरिक भी पैदा हो चुका था । सबको एकत्रित कर वह सभी शत्रुओं को पराजित किया अपनी दोनों पत्नियों के साथ कुछ दिन आराम-पूर्वक रहने के बाद वह अपने पुत्रो, पत्नियों को सबकुछ सौंपकर बेवरा नदी के तट पर पर झोपड़ी बनवाकर पूजा-पाठ में अपना समय व्यतीत किया।कुछ दिनों बाद चिता बनवाकर उसमें अपने को भस्मीभूत कर लिया ।

आचार्य द्विवेदी के उपन्यास साहित्य का अध्ययन करने के पश्चात् हमें यह ज्ञात होता है कि उनका पूरा उपन्यास साहित्य प्रेरणा का साहित्य है । पुनर्नवा के अध्ययन से यह विदित होता है कि कालिदास, शूद्रक के साहित्य से भी इसकी रचना में पर्याप्त प्रेरणा ली गई है । मुख्य सूत्र तो "लोरिकायन" और "चंदायन" से लिए गये है । जो आचार्य द्विवेदी के रचना कौशल का सहयोग पाकर और भी व्यवस्थित हो गये है । आचार्य द्विवेदी ने इस उपन्यास के रूप में इन सबको जोड़कर लौकिक दृष्टि से ऐसे लौकिक आख्यान की रचना की है कि पाठक चमत्कृत हो जाता है । "कहाँ शूद्रक का मृच्छकटिक, कहाँ कालिदास, कहाँ लोरिकायन के लोरिक, कहाँ बलिया में पंडित जी का गांव दुबहेड़ और आसपास

की जमींदारी हल्दी और कहाँ पाटलिपुत्र, मथुरा और उज्जयिनी । पर द्विवेदी जी ने खूब जोड़ा, तीन-तीन क्या चार-चार शताब्दियों के इतिहास को सम्पिण्डित करके निचोड़ लिया और उसे बीस पच्चीस नव सिरजे वर्षों के भांड में अंजुरी-अंजुरी ढरका दिया ।" ।

पुनर्नवा पर सर्वाधिक प्रभाव लोरिकायन का पड़ा है । यह प्रभाव ठीक उसी तरह है जिस प्रकार रामशर्मन कृत "अध्यात्मरामायण" का प्रभाव तुलसी के "रामचरित मानस" पर है । अधिकांश पात्र साम्य और एक सीमा तक घटना साम्य जैसा इन दोनों ग्रन्थों में पाया जाता है, संभवत: वैसा ही साम्य पुनर्नवा और लोरिकायन में है । लोरिकायन के हीन पात्रों को पुनर्नवा में आचार्य द्विवेदी ने उतार दिया है । प्रमुख पुरुषों में लोरिक, संवरू, स्त्रियों में मंजरी, चंदा आदि लोरिकायन के पात्र है । पुनर्नवा में भी ये पात्र चरितादि के गुणों के साथ ज्यों के त्यों आये है ।

लोरिकायन के अनुसार लोरिक का विवाह मंजरी, नामक वीरांगना से हुआ था ।[2] पुनर्नवा का गोपाल आर्यक > गोवाल आरिक > ग्वालारिक > लोरिक - इसी लोकगाथा का नायक लोरिक है । लोरिकायन में लोरिक की पत्नी मंजरी है । और पुनर्नवा में लोरिक की पत्नी मृणालमंजरी है । जो लोक में 'मैना मांजरदेई' नाम से पूजी जाती है । वह सती सिरोमणि है; रूप, शील, पवित्रता की साक्षात् मूर्ति है और वीरांगना है ।[3] ठीक लोरिकायन के लोरिक की तरह ही पुनर्नवा के लोरिक का चरित्र है । संक्षेप में पुनर्नवा के लोरिक और मृणालमंजरी (मैना मांजर देई) गाथा के लोरिक और मैना अर्थात् मंजरी ही है । लोरिकायन के लोरिक के बड़े भाई का नाम संवरू है । गाथा में संवरू उपनायक है । इधर

---

1. डॉ० बादाम सिंह रावत - उपन्यासकार हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ।।0.
2. सम्पादन, श्रीरंजन सूर्यदेव ; परिषद्-पत्रिका ; लोरिक प्रवाद और किंवदन्तियाँ, डॉ० अर्जुनदास केसरी, पृ०-60.
3. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी - पुनर्नवा, पृष्ठ - 78.

पुनर्नवा में भी वह उपनायक ही है । यही संवरु पुनर्नवा का शार्विलक, छबीला पंडित, यामरूप या संवरु है । पुनर्नवा में यह एक अद्भुत और अपार शक्ति वाला मल्ल है, लोरिकायन में भी इसकी शक्ति का उल्लेख काफी बड़े-चढ़े रूप में हुआ है । पुनर्नवा में "वृद्धगोप के दो पुत्र थे जिनमें एक तो वस्तुत: ब्राहमण कुमार था जिसे उन्होंने यत्न और स्नेह से पाला था । कुछ सांवला होने के कारण उन्होंने उसका नाम दिया श्यामरूप । दूसरा आर्यक उनका अपना लड़का था ।" ।
लोरिकायन में दोनों भाई ही है जिसमें लोरिक तो अपने बाप का सगा लड़का है परन्तु श्यामरूप स्नेहपालित । लोरिकायन में लोरिक की प्रेमिका का नाम चनवां है । और पुनर्नवा में उसकी प्रेमिका का नाम चंदा है । दोनों जगह दोनों की प्रेम कहानी एक जैसी है । लोरिकायन में भी चनवां के पति को नपुंसक दिखाया गया है, पुनर्नवा के चंदा का पति भी नपुंसक ही है । उसके साथ चन्दा का विवाह शास्त्र सम्मत एवं नैतिक नहीं है । समाज द्वारा थोपा गया है । सुमेर काका कहते है "मेरा अभियोग यह है कि श्रीचन्द में पुरुषत्व है ही नहीं और चन्दा के साथ उसका विवाह धर्मसम्मत नहीं हुआ । यह विवाह चन्दा के पिता ने कन्या की इच्छा के विरुद्ध कराया है जो मेरी दृष्टि में सामाजिक बलात्कार है ।"[2] लोरिकायन में भी यही धारणा व्यक्त हुई है । "विवाह के बारह वर्षों बाद जब चनवां सोलह साल की हो गई तो उसे अपने पति के सम्बन्ध में दु:ख होने लगा । वह कद का छोटा (बामन था) एक आंख से काना था, गंदगी के साथ रहता था और कदाचित नपुंसक होने के कारण चंदा से दाम्पत्य सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकता था ।"

बलिया शहर से कुछ दूर हरदी नामक एक गांव है । यह गांव गंगा के मुहाने पर बसा हुआ है । गाथा में यह गांव आया है । लोरिक की गाएं वहाँ पानी पीती थीं । अब हरदी गांव के टीले ही शेष रह गये है । कहते हैं पहले

---

1. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी - पुनर्नवा, पृ.-10.
2. पुनर्नवा - पृ.- 168.

यहाँ किला था । हरदी (हलदी) जगह आचार्य द्विवेदी के गांव के पास ही है । यह गंगा के तट पर ही बसा है । "लगता है द्विवेदी जी ने हरदी और गंगा के मुहाने को मिलाकर "पुनर्नवा" के हलद्वीप स्थान की सृष्टि की है । यह मेरा अनुमान ही है । सही भी हो सकता है, नहीं भी हो सकता है । लेकिन बात कुछ ऐसी रही अवश्य होगी ; क्योंकि जोड़ तोड़कर नये की सृष्टि कर देना द्विवेदी जी की बड़ी भारी विशेषता थी ।"[1]

इस तरह पुनर्नवा के अनेक स्थल और वृतान्त ऐसे हैं जो लोरिकायन में मिलते हैं । लोरिकायन का व्यापक प्रभाव इस उपन्यास पर पड़ा है । पुनर्नवा में लोक जीवन एवं संस्कृति का चित्रण करने के उद्देश्य से जिस प्रकार लोरिकायन का प्रयोग किया गया है वह अति सार्थक एवं समर्पक है । वास्तव में लोकगाथाओं का प्रारम्भ और विकास मानव और प्रकृति के परस्पर संघर्ष से हुआ है । संघर्ष से लोकगाथाओं को प्रेरणा मिली है । अनेक बार सामाजिक मर्यादाओं और रूढ़ियों ने मनुष्य के जीवन में हस्तक्षेप किया और उसकी प्रगति में बाधा पहुँचाई । जो मर्यादाएं निर्जीव हो चुकी थीं और जिनका यंत्रवत पालन करने में मनुष्य लकीर का फकीर बना जा रहा था । ऐसी सब रूढ़ियों का लोकगाथाओं में विरोध हुआ । ऐसे संघर्ष में जिन लोगों का आदर्श और मनोबल ऊँचा था, वे अन्त में विजयी हुए । इसी दृष्टान्त को लेकर लोकगाथाओं का जन्म हुआ है । पुनर्नवा में भी इसका पालन बड़ी कुशलता से हुआ थहै - "जो कुछ पुराना है, जीर्ण है, सड़ा-गला है वह ध्वस्त होता जा रहा है । नवीन के निर्माण में प्रत्येक पग पर मृत्यु का तांडव दिखाई दे रहा है ।"[2]

यह बात सही है कि परिश्रम और संघर्ष से ही लोकगाथाओं का विकास हुआ है । लेकिन उसमें प्राय: ऐसी भी कल्पनाएं पायी जाती हैं जिनका

---

1. विश्वन कुमार शर्मा - हजारी प्रसाद द्विवेदी साहित्य भाषा और शैली, पृ॰- 65.
2. पुनर्नवा - पृ॰-116.

असलियत से बहुत कम सरोकार होता है। लोकगाथाओं के सभी पात्र वीर और महत्वाकांक्षी ही नहीं हुआ करते, मूर्ख भी होते हैं। लेकिन वे भी लोकगाथा के प्राण होते हैं। वे लोग दुनिया की निगाह में नासमझ हैं, सिरफिरे हैं किन्तु उनके हृदय की गहराई में कहीं न कहीं मानवता का अमरतत्व रहता है। उनके मनसूबे ऊँचे होते हैं। उनका हृदय स्वच्छ होता है। स्वभाव से वे स्वच्छन्द आदत से मस्त होते हैं। इसीलिए लोकगाथाओं में मूर्ख कहे जाने वाले पात्रों से हम प्रेम करते हैं घृणा नहीं। इन पात्रों पर हम जी भर हँसते हैं और इनकी खिल्ली उड़ाते ऐसे ही एक पात्र पुनर्नवा में माढव्य शर्मा है। उनकी चर्चा कम दिलचस्प नहीं है। "मेरी ब्राहमणी एक बार ऐसी उल्टी-पुल्टी बातें कर रही थी। कह रही थी "मन बड़ा व्याकुल हो रहा है, रुलाई आ रही है, जी नहीं लगता।" मैंने पूछा "क्यों ?" बोली, "पता नहीं। मैं समझ गया इसके मन में कुछ विकार आ गया है। मैंने कहा, "देवी जी सीधे मैके चली जाओ। वह इसपर भी राजी नहीं हुई। फिर इस सोटे को देखते हो न, इसी का सहारा लिया। चुपके से चली गयी। दो महीने बाद अपने आप लौट आयी। मैंने पूछा, "मन व्याकुल तो नहीं है ?" बोली, "ठीक है।" फिर माढव्य ठठाकर हँसा। मगर तुम्हें कहाँ भेजूँ मित्र ? गृहिणी की दवा तो मैके में है। तुम्हारी कहाँ है ?[1]

लोरिकायन का जन्म और विकास खेतों में खलिहानों में, चौपालों में, साधारण लोगों के बीच हुआ है। कभी कोई लोरकिहा सुनी कहानी में नमक मिर्च लगाकर कथा सुनाता है। दूसरा तीसरे को, तीसरा चौथे को वही कथा कुछ परिवर्तित रूप में सुनाता है। यही लोरिकायन का पारंपरिक विकास है। इधर लोरिकायन को संकलित कर प्रकाशित किया गया है। यदि हम लोरिकायन की कथा एवं पुनर्नवा की कथा का तुलनात्मक अध्ययन करें तो हमें

---

1. पुनर्नवा - पृ॰- 90.

मालूम होगा कि पुनर्नवा की मुख्य कहानी और लोरिकायन की कहानी मूल रूप में एक ही है। इनकी मूल वृत्तियां भी परस्पर मिलती हैं।

कुछ विद्वान "वृद्धगोप" और अहीर के बीच झमेला खड़ा करते हैं। पुराणकार ने भी "गोप और यादव (अहीर) के पार्थक्य का झमेला रख ही छोड़ा है। चाहे जो कुछ भी हो किन्तु -भारतीय इतिहास के आदियुग में ही गोप विद्यमान हैं। और इन गोपों का राजन्य यादवों से रक्त सम्बन्ध हो या न हो संस्कृतिगत सम्बन्ध अवश्य है। गोपों का बालगोपाल और राधा जो इनके लोकायत साहित्य और धर्मसाधना के अंग थे यादवों के कृष्ण बलदेव के साथ समन्वित हुए।"[1] अत: अहीर के लोकमन ने एक नया आश्रय बनाया। दो भाई की कथारूढ़ि (मोरिफ) से ही संवरु और लोरिक की कल्पना की। लोरिकायन के भी नाम समानान्तर हैं संवरु और लोरिक ; पुनर्नवा में भी दो नाम समानान्तर हैं - श्यामरूप (संवरु) और गोपाल आर्यक (लोरिक)। लोरिकायन का परकीया प्रणय और बहुविवाह आदि अनेक कथारूढ़ियां लोरिकायन की ही पुनर्नवा में पिरोई गयी हैं।

अहीर जाति का मानस ही नहीं उत्तर भारत का सामान्य लोकमन ही पुरुष प्रधान है। पूर्वी भारत की लोकगाथाओं का ढांचा पुरुष-नारी या प्रेमी-प्रेमिका पर चलता है किन्तु उत्तरी भारत की लोकगाथाओं का मूल सांचा "दो भाई" है जैसे इन्द-उपेन्द्र, राम-लक्ष्मण, अर्जन-भीम, आल्हा-उदल, संवरु लोरिक आदि। इसी पैटर्न को ही पुनर्नवा के लिए भी अपनाया गया है। उसके मूल नायक दो भाई श्यामरूप (संवरु) और आर्यक (लोरिक) हैं।

पुनर्नवा में लोरिक चन्दा को अपनी दूसरी पत्नी के रूप में स्वीकार कर लेता है। "यों अहीर जाति में एक नारी का किसी कारणवश एक पति छोड़कर दूसरा पति वरण करने का अधिकार सुरक्षित है। हमारे यहाँ के अहीर

---

1. डॉ० कुबेरनाथ राय - पर्णमुकुट - पृ०-31.

समाज में यह घटित हो जाता है किन्तु यदा-कदा । तो भी ऐसा करना हेय और अप्रीतिकर माना जाता है ।"[1] लोरिकायन के एक संस्करण के अनुसार लोरिक अपने अन्त समय में नरक का भागीदार होता है । अपने अबैध प्रेम के कारण नहीं । क्योंकि उसने मंजरी की छोटी बहिन को उसकी शादी करवाने का बचन दिया था । लेकिन चनवां के प्रेमपाश में जकड़ जाने के कारण वह ऐसा नहीं कर सका । यों जिस तरह लोरिकायन की पूरी कथा, कर्तव्यबोध, चारीत्रिक दृढ़ता, स्वामि-भक्ति साहस वीरता आदि की नींव पड़ी, पुनर्नवा में विशेष बल देकर उपस्थित किया गया है ।

लोकगाथाओं में संगीत अनिवार्य रूप से रहता है । संगीत ही लोक-गाथाओं को सुमधुर बनाती है । "प्रारम्भ में लोकगाथाओं में नृत्य एक अनिवार्य अंग था । संस्कृत प्राकृत या अपभ्रन्स काल की लोकगाथाओं में नृत्य उल्लेख मिलता है ।"[2] अपभ्रन्स काल के आचार्य हेमचन्द ने काव्यानुशासन में ग्राम्य अपभ्रन्स के "गेयरूपों में नृत्य का उल्लेख किया है । इससे यह सिद्ध होता है कि लोकगाथाओं में नृत्य का समावेश था । "पुनर्नवा" को एक काव्यमय उपन्यास माना जाता है । उसमें कई स्थानों पर नृत्य का उल्लेख है । आर्य देवरात स्वयं बार-बार बिरहा की धुन गुन गुनाते है । इस स्तर पर भी लोकगाथाओं से इसकी समता देखी जा सकती है ।

पुनर्नवा के लेखक ने कथा में लोरिकायन के विविध प्रसंगों का जमकर प्रयोग किया है । साथ ही साथ लोकपरम्पराओं के रूप में इतिहास प्रस्तुत किया गया है । उपन्यास के प्रारम्भ में ही हलद्वीप प्रकरण में बसंतोत्सव मनाने की परम्परा दिखाई गई है । लोकजीवन में प्रचलित धर्म के क्षेत्र में प्रचलित परम्पराओं का भी इतिहास दिया गया है । तंत्र कालीन समाज में बौद्ध, शैव एवं गीता की उपासना

---

1. डॉ० कुबेरनाथ राय - पर्णमुकुट - पृ०- 34.
2. डॉ० सत्यव्रत सिनहा - भोजपुरी लोकगाथा, पृ०- 30.

परम्पराओं का सम्मान लोकजीवन में दिखाया गया है। शिक्षा के क्षेत्र में गुरूकुल परम्परा एवं ब्राहमण आचार्यत्व आदि परम्परायें भी वर्णित हैं। इस प्रकार धर्म राजनीति समाज संस्कृति शिक्षा आदि के क्षेत्र से सम्बन्धित लोक परम्पराओं को पुनर्नवा की कथा में सम्मिलित किया गया है। इन तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि पुनर्नवा लोरिकायन के आधार पर ही रचा गया है। लोरिकायन के समस्त कथा तत्वों एवं घटनाओं का इसमें यथावसर बड़ा सार्थक प्रयोग किया गया है। मानव जीवन का साक्षात् अनुभव अभिव्यक्ति की सहजता, लाक्षणिक अर्थ और मार्मिक प्रभाव लोकगाथा की विशेषताएं होती हैं। पुनर्नवा में भी पारम्परिक लोकजीवन का निरीक्षण है। उसकी कथा सहज भाव से ही कही जाने पर भी गम्भीर लाक्षणिक अर्थ और मार्मिक संवेदनशीलता रखती है। जान पड़ता है पूरा उपन्यास लोकतत्व से किसी न किसी रूप में सिक्त होकर अनुभव और अभिव्यक्ति की ओर अधिक सामर्थ्य जुटाने में समर्थ हो सकता है। अन्ततः डॉ० नामवर सिंह के शब्दों में - "पुनर्नवा कहने के लिए कालिदास एक चरित्र के रूप में आते हैं। लेकिन पुनर्नवा चन्दायन की "चरेणी" चंदा की लोक-कथा का साहित्य रूपान्तर है। जिसमें गोपाल आर्यक पंडित जी की अपनी व्युत्पत्ति के अनुसार लावारिक है - लोरिक है। उस लोरिक की भी दो प्रियाएं हैं। एक चन्द्रा है जो पहले से विवाहिता है और दूसरी उसकी अपनी परिणीता पत्नी जो मृणाल मंजरी है। तो एक-पुरूष और दो स्त्रियाँ पुनर्नवा में हैं।"।

निष्कर्षतः पुनर्नवा में पूर्वी उत्तर-प्रदेश और पश्चिमी बिहार में प्रचलित अर्ध ऐतिहासिक वार्ताओं और मौखिक परम्परा से ग्रहीत लोकगाथा, प्रवादों, लोकोक्तियों तथा लोकगीतों में व्यंजित इतिवृत्त को कल्पना और इतिहास के आधार पर कथा का रूप देने का प्रयास किया गया है। इस प्रयत्न

का अध्यक्षीय भाषण

1. डॉ० नामवर सिंह - संगोष्ठी संकलन आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ०-

में आचार्य द्विवेदी ने अपनी कल्पना का सर्वाधिक प्रयोग किया है । फिर भी लोकवार्ता तत्वों के संगठन द्वारा अपनी कल्पना के अनुसार उसकी व्याख्या प्रस्तुत करने का उपक्रम अत्यन्त कलात्मक एवं मनोरम है । लोकतत्वों की सहायता से लोकजीवन की सांस्कृतिक चेतना को विस्फारित एवं उद्दीप्त करने का ऐसा रचनात्मक प्रयास कथासाहित्य में पुनर्नवा के अतिरिक्त कहीं दिखाई नहीं पड़ता । हिन्दी के अन्य उपन्यासों में प्राय: एक ग्राम - कथापट के ताने-बाने विभिन्न लोकतात्विक तन्तुओं से निर्मित दिखाई पड़ते हैं । वे प्राय: वर्णनात्मक एवं विवरणात्मक हैं । कहीं-कहीं लोककथाओं अथवा जातीय कथाओं के उल्लेख अवश्य आये हैं लेकिन वे उल्लेखमात्र हैं । उनका सम्बन्ध उस जीवन विशेष पर आधारित उपन्यास के मुख्य कथानक की निर्मिति में नहीं हुआ है । इसलिए अधिकांश उपन्यासों के कथानक लोकतात्विक चेतना से युक्त होते हुए भी लोकपरम्परा द्वारा गृहीत कथानक के भीतर से विकसित प्रतीत नहीं होते । संक्षेप में कथानक के माध्यम से लोकतत्वों के सहज अंगीकार तथ्य प्रयोग का ऐसा कलात्मक प्रयास हमें पुनर्नवा के अतिरिक्त किसी और उपन्यास में नहीं मिलता ।

(ख) पुनर्नवा की घटना योजना

सामान्यत: हिन्दी उपन्यासों में लोकजीवन से सम्बद्ध अनेकानेक घटनाओं के द्वारा मूलकथा को गति मिलती है । ऐसा भी होता है कि मूल कथा के साथ अनुसंगी समानान्तर कथाएं भी विभिन्न घटनाओं के तारतम्य में विकसित होकर एक दूसरे को सहयोग करती हुई अन्तत: एक कथा के साथ मिल जाती है । ये घटनाएं लोक समस्याओं से, चिरपरिचित अभिप्रायों से संचालित और गतिमान होती हैं । लेकिन ये घटनाएं जो लोक-प्रवाद, परम्परा, कहावत या गीतों से संदर्भित होती हैं । कथा को कई पहलुओं और खण्डों में वर्तमान घटनाओं के साथ जोड़ती है । पुनर्नवा में इस प्रकार की घटना योजना दृष्टिगोचर होती है ।

घटनाओं में लोकतत्वों का वेग तो है ही लोकजीवन के सामाजिक-सांस्कृतिक तथा परिस्थितिगत आयामों के विविध खण्ड चित्र भी संयोजित हैं । लोकतात्विक सामग्री और संवेतना वाली घटनाओं के अतिरिक्त सामान्य आंचलिक उपन्यासों में अत्यन्त वर्णनात्मक ढंग से लोकतात्विक घटनाओं के उल्लेख किए जाते रहे हैं । परन्तु इनमें घटना योजना की वैसी कलात्मकता का अभाव है जैसी पुनर्नवा में दिखाई पड़ती हैं ।

वास्तव में घटनाओं का जाल ही किसी कथा को लेखकीय उद्देश्य के अनुसार गति प्रदान करता है । यह स्थिति तो सभी कोटि के उपन्यासों में सामान्य रूप से वर्तमान रहती है । लेकिन इस संदर्भ में पुनर्नवा की विशेषता उसकी लोकतात्विक संवेदना और तत्सम्बन्धी सामग्री के प्रयोग में है । लोकजीवन के परम्परागत एवं वर्तमान कालिक आयामों को एक साथ समेटने का कौशल ही उसे सामान्य उपन्यासों से अलग कर देता है । वैसे तो लोक कथाओं में सर्वत्र इस प्रकार के कौशल का दर्शन होता है किन्तु पुनर्नवा में लौकिकता के प्रति आग्रह होने के कारण लोकजीवन का चटक रंग उसकी घटनाओं को अपेक्षाकृत अधिक चमत्कृत कर दिया है । पुनर्नवा में लोकतत्वों के अंगीकार का महत्वपूर्ण उपादान लौकिक परिवेश के देशकाल और परिस्थितियों के बीच से होता है । इसलिए घटनाएं भी इन्हीं के तारतम्य में विकसित होकर उन्हीं के रंग-ढंग में संयोजित होती हैं । इसका जितना अच्छा तारतम्य हम पुनर्नवा में देखते हैं उतना किसी और उपन्यास में नहीं ।

लोकजीवन की अलग-अलग समस्याएं हो सकती हैं । लेकिन लोकजीवन से सम्बन्ध रखने वाले उपन्यासों का विशेष आग्रह यथार्थ जीवन के प्रति होता है । अत: परम्परा से अनुमोदित और लोकतत्वों से पूर्ण होने पर भी लोक के समसामायिक जीवन में घटने वाली समस्यामूलक घटनाएं ही विशेष रूप से स्पष्ट की जाती हैं । ये घटनाएं प्राय: आर्थिक शोषण, सामाजिक अन्याय, सांस्कृतिक भेदभाव और पारिवारिक संघर्षों को लेकर ही चलती है । पुनर्नवा में प्राय: इन

सभी समस्याओं का स्पष्टीकरण हुआ है। इसमें पूर्वी उत्तर प्रदेश और पश्चिमी बिहार के लोकजीवन की समस्याएं उजागर हुई हैं। नारी हक की लड़ाई विद्रोही तुकतान में चलती है। "यह कैसा सहधर्म है कि पुरुष युद्ध करें और स्त्रियां उनकी आरती उतारती रहें। मृणाल का मन ऐसा नहीं मानना चाहता। सहधर्म में महिष-मर्दन भी शामिल होना चाहिए। देवी सिंहवाहिनी भी है और महिष-मर्दिनी भी। पिताजी क्यों इस बात को मानने में कुंठा अनुभव करते हैं।"[1]

पुनर्नवा में सामाजिक-सांस्कृतिक समस्याओं का विशेष फैलाव है। उसमें दलगत संघर्ष और निम्न-मध्यम श्रेणी के जनों के द्वन्द्वात्मक जीवन का उपक्रम कम ही हुआ है। वास्तविकता यह है कि यह उपन्यास सामाजिक-सांस्कृतिक समस्याओं को ही अधिक स्पष्ट करता है। इसलिए समस्या चाहे सामूहिक हो, व्यक्तिगत या पारिवारिक हो, लोकतत्वों के सहज संग्राह की प्रवृत्ति चतुर्दिक दिखलाई पड़ती है। फिर भी पुनर्नवा का कलात्मक घटना संगठन लोकतत्वों के बहु-आयामी प्रयोग को एक विशिष्ठ शैली प्रदान करता है। इसमें लोकतत्वों का प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दोनों ही रूपों में सुन्दर संयोजन हुआ है। यही कारण है कि इस उपन्यास में घटनाएं वर्णनात्मक या विवरणात्मक न होकर पात्रों के लौकिक चरित्र और घटनाओं की परिस्थिति एवं परिवेशगत समस्याओं से ओत-प्रोत दिखलाई पड़ती है।

पुनर्नवा की मूल कथा स्त्री-पुरुष के लौकिक प्रेम सम्बन्धों को लेकर आगे बढ़ती है। प्रेमी युगल पारस्परिक लौकिक प्रेमजन्य आकर्षण के कारण ही जीवन में संघर्ष करते हुए अनेक घटनाओं से जूझते हैं। वे अचानक ही हमारे सामने नहीं आते अपितु एक विशेष भूमिका के साथ उदय होते हैं। अपने लोकजीवन के अनुकूल

---

1. पुनर्नवा - पृ.-41.

सभी संस्कार विद्यमान हैं फिर भी वे अपने रूढ़िग्रस्त समाज की बनी-बनाई बाधाओं की परवाह न कर अपने सम्बन्धों को दीर्घजीवी बनाने का हर संभव प्रयास करते हैं। लोकजीवन रूपी संजीविनी शक्ति ही उन्हें पुनर्नवता प्रदान करती है। इसी का यह परिणाम है कि गोपाल आर्यक एक साधारण युवक से सामंत पद पर आसीन हो जाता है। यहीं तक ही नहीं समुद्रगुप्त का सेना-नायक तक बनता है। श्यामरूप नट मंडली को त्यागकर महामल्ल शार्विलक का स्थान पाता है। चन्द्रमौलि भटकते हुए अनेक स्थानों का भ्रमण करते हुए मनो-हारी और संगीतमय छंदों की रचना करता है। सभी घटनाओं के केन्द्र में लोकजीवन है।

आर्य देवरात के जीवन से जुड़ी हुई समस्त घटनाएं एक अलग ही माहौल प्रस्तुत करती है। हलद्वीप के लोग उनके आन्तरिक जीवन से अपरिचित हैं। वास्तव में वे कुलूत देश के राजकुमार हैं। अपनी विमाता के षणयन्त्र के शिकार होते हैं। उनके लौटने से पूर्व ही उनकी प्रिय सुन्दर पत्नी शमिष्ठा सती हो जाती है। वे इस धक्के को सहन नहीं कर पाते और अपना राजपाट छोड़कर हलद्वीप में आश्रम बनाकर रहने लगते हैं। हलद्वीप की गणिका मंजुला में वे अपनी पत्नी शर्मिष्ठा की प्रतिकृति देखते हैं। उसके आचरण, संगीत, नृत्य कला से प्रभावित होते हैं। नगर श्री मंजुला भी उनके चाटुकारिता विहीन लौकिक चरित्र शास्त्रज्ञ और कला मर्मज्ञता के कारण उनके प्रति अत्यन्त सहज ढंग से प्रभावित होती है। दोनों हृदय से एक दूसरे को चाहने लगते हैं। लेकिन इस चाहत को स्पष्ट ढंग से व्यक्त नहीं कर पाते। इन दोनों का प्रेम परम्परागत प्रेम या यों कहें कि पूर्व साहित्यों में वर्णित सामंत-गणिका प्रेम दर्शाते हुए भी एक अलग चरित्र रखता है। इसके पूर्व हिन्दी साहित्य में सामंत और गणिका के प्रेम का चित्रण काफी मात्रा में हुआ है। उसमें नायक सामंत कामवश या अन्य कारण वश गणिका के पास जाता है। वह शराबी और कामुक होता है। लेकिन आर्य देवरात न तो कामुकतावश मंजुला के प्रति आकर्षित होते हैं और न तो अन्य किसी कारणवश।

वे प्रभावित होते हैं तो उसमें अपनी पत्नी की प्रतिच्छवि देखकर ही । लोक-जीवन में पति और पत्नी के गहरे प्रेम की अभिव्यंज्जना इससे अधिक हमें और कहीं दिखाई नहीं देती । उनका प्रेम वासनात्मक न होकर रागात्मक है । मंजुला उनके लिए आशा और प्रेरणा का उत्स है ।

आर्यक और मृणाल मंजरी केलिसखा हैं । एक ही गुरू के संरक्षण में पले-बढ़े और पढ़े-लिखे हैं । दोनों के बाल्यावस्था का सखा-प्रेम युवावस्था आने पर या विवाहित हो जाने पर भी मित्रवत्ता को ही प्रदर्शित करता है । वे एक दूसरे को बाल्य-सखा की अपेक्षा एक दूसरे को प्रेमी-प्रेमिका की दृष्टि से देखने लगते हैं । उनके लिए एक क्षण भी विछुड़ना असह्य है किन्तु लोक मर्यादा का वे कभी भी उलंघन नहीं कर पाते । समय आने पर एक दूसरे की सुरक्षा के लिए चिंतित होते हैं । यह स्वाभाविक चिन्ता हमें लोकजीवन के निश्छल प्रेम में ही देखने को मिल सकती है । प्रसंगवश मृणालमंजरी आर्यक को बुलाती है । आर्यक चन्दनक से बदला लेने जाता है । और मृणाल मंजरी को रक्षा का बचन देता है । अपने बचन के प्रति कटिबद्ध होने के कारण ही वह गणिका पुत्री मृणाल से शादी करता है । मृणाल शादी होने के बाद एक योग्य गृहिणी सिद्ध होती है । अपने शील-सौजन्य व नम्र व्यवहार से वह लोगों का हृदय जीत लेती है । कालांतर में "मैना मांजर देई" के रूप में ख्याति पाती है । मैना आर्यक की लोकजीवन में आदर्श पतिव्रता पत्नी बन जाती है ।

इसी बीच आर्यक के जीवन में उससे प्रेम करने वाली एक युवती चंद्रा भी आती है जो विवाहित है । चंद्रा अपने को विवाहित नहीं मानती क्योंकि उसका विवाह पैसे की लालच में एक नपुंसक से कर दिया गया । वह लोकलाज त्यागकर आर्यक के पास आती है । और उसे ही अपना पति मानती है । लेकिन आर्यक जो कि एक वीर योद्धा और साहसी नवयुवक होते हुए भी लोक-लाज के भय से भाग खड़ा होता है । श्यामरूप और मांदी से जुड़ी घटना भी महान लौकिक

परिपार्श्व लिए हुए है । श्यामरूप ब्राहमण कुमार है किन्तु परिस्थितियोंवश संस्कार भ्रष्ट हो जाता है । उसके समस्त संस्कार अहीर के नवयुवक के संस्कार हो जाते है । वह एक नट मंडली में शामिल हो जाता है । यह प्राय: देखा जाता है कि अहीरों का सम्बन्ध नटों से होता है क्योंकि दोनों की संस्कृति काफी स्तरों पर मेल खाती है । मल्लयुद्ध एवं शारीरिक कला से दोनों का सम्बन्ध होता है । नट मंडली में वह भाभियों के साथ मादी को देखता है । वह मांदी के पीछे चुम्बक की तरह खिंचता चला आता है ।[1] यह प्रथम दर्शन में प्रेम की घटना का चित्रण तो साहित्य में बार-बार देखने को मिल जाता है किन्तु श्यामरूप और मांदी के पारस्परिक प्रेम की अभिव्यक्ति जिस यथार्थ लौकिक धरातल पर हुई है वह अन्यत्र दुर्लभ है ।

इसके अतिरिक्त पुनर्नवा में समस्त प्रेम की घटनाएं लौकिकता के कारण ही पुनर्नवता को प्राप्त करती हैं । लौकिकता ही वह संजीवनी शक्ति है जो सभी पात्रों को शक्ति प्रदान करती है । कथा के पात्र अपने जीवन में स्वाभाविक प्रेम प्राप्त करने के लिए समाज की सड़ी-गली रूढ़ियों को तोड़ते नजर आते हैं । चंद्रा अपने उद्दाम प्रेम के आगे उन सामाजिक मान्यताओं का बहिष्कार करती है जो ऐसे विवाह को स्वीकृति देते हैं जिसमे किसी नपुंसक का विवाह किसी स्त्री से हुआ हो ।

समस्त पात्रों को एक जगह मिलाने वाली उज्जयिनी नगरी अमर की ओर जीतने की अभिलाषा रखने वाली है ।[2] उज्जयिनी में एकत्र होकर मथुरा की ओर प्रस्थान करते हुए दिखाया गया है जो कि मध्यकालीन लोकजीवन में व्याप्त धर्मसाधना की ओर संकेत करता है । चन्द्रा के उद्दाम प्रेम में भी मातृ-

---

1. पुनर्नवा - पृ.- 157.
2. पुनर्नवा - पृ.- 203.

प्रेम के रूप में बदल जाता है । "साथ ही चंदा को देहधारिणी भक्ति कहकर उपन्यासकार ने एक महत्वपूर्ण तथ्य की ओर संकेत किया है कि मधुरा भक्ति में अभीर भकित के बीज शायद लोरिक-चंदा की कथाओं में ही छिपे हैं । [1]

पुनर्नवा के प्रारम्भ में ही महामारी की घटना को इस तरह घटित होते दिखाया है कि मानों स्वाभाविक रूप से घटित हो रही है । हलद्वीप में महामारी फैलने के कारण चारों ओर हाहाकार और भगदड़ मच जाती है । सभी अपनी-अपनी जान लेकर भागते हैं । इस प्रसंग को लाकर आचार्य द्विवेदी ने कथा को लौकिक धरातल प्रदान किया है । आज तो वैज्ञानिक आविष्कारों से वैसी स्थिति नहीं रह गई है परन्तु पहले ऐसा ही होता था । महामारी आने पर लोग घर द्वार छोड़कर भाग जाते थे । महामारी तो इस कदर होती थी कि गाँव के गाँव, पुर के पुर वीरान हो जाते थे । महामारी का लोकजीवन में भारी आतंक होता था । उस आतंक का अच्छा चित्र पुनर्नवा में खींचा गया है । यह तत्कालीन सत्य के एकदम अनुरूप है । इसी प्रकोप के कारण आर्य देवरात मंजुला के हर्म्य में जाते हैं । मंजुला विस्तर पर पड़ी कराह रही होती है । देवरात उसे पानी पिलाते हैं । थोड़ा होश आने पर वह मृणाल मंजरी को देवरात के सुपुर्द कर देती है । देवरात बच्ची को सुरक्षित स्थान पर रखने जाते हैं, इसी बीच मंजुला कहीं गायब हो जाती है ।

इसी तरह का प्रसंग नट-मंडली से जुड़ी घटनाओं का भी है । श्यामरूप नट मंडली में शामिल होकर अच्छा खासा मल्ल बन जाता है । मांदी से उसकी भेंट भी नट मंडली में होती है । नट-मंडली की भाभियां श्यामरूप से तरह-तरह का मजाक करती है । "नट-मंडली की युवतियां श्यामरूप से देवर का नाता रखती थीं वे सदा उसके साथ कुछ न कुछ ठिठोली करती रहती थीं ।

---

1. श्रृष्णिकुमार चतुर्वेदी का लेख - आलोचना, जनवरी-मार्च अंक, 1974, पृ॰-94

श्यामरूप केवल हंस दिया करता था । उस रात को इन भाभियों में असंयत उल्लास दिखाई दिया । उन्होंने उसे घेर लिया और नाना भाव से उसका मनोरंजन करना शुरू किया । एक प्रौढ़ा भाभी ने कहा - देवर आज आनन्द मनाने का दिन है । तुम्हारी भाभियों का निश्चय है कि तुम हममें से किसी एक को चुन लो ।"[1]

इस प्रकार नट मंडली के भाभियों के हास-परिहास से भी ग्रामीण जीवन में देवर-भाभी के मजाक का अच्छा उल्लेख हो सका है । जो लोकजीवन के मनोरंजन का एक प्रमुख अंग है । इसी के साथ-साथ एक ऐसी जाति के लोकजीवन को चित्रित किया गया है जिसका व्यवसाय ही अपने नाच-गान एवं करतबों से लोगों का मनोरंजन करना है । श्यामरूप से ही जुड़ने वाली एक छोटी सी घटना विक्षिप्त ब्राहमण और उसकी पत्नी की भी है । उसके पुत्र का नाम भी श्यामरूप ही था । जो शास्त्रार्थ में पराजित होने के बाद अपने पिता द्वारा प्रताड़ित किया गया । इसके बाद न जाने कहाँ लापता हो गया । इस प्रसंग के न आने पर भी कथा में कोई अन्तर नहीं आता किन्तु इससे यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि इस समाज में जीने के लिए सामाजिक साहचर्य की आवश्यकता होती है । परिवार की आवश्यकता होती है । यह लोकजीवन का यथार्थ भी है ।

लोकजीवन में आज भी साधु-सन्यासियों की अद्भुत शक्ति में बहुत आस्था रखते हैं । चन्द्रा और मैना सिद्ध बाबा से पूछताछ करने जाती हैं । सिद्ध बाबा हाथ पैर देखकर भविष्य और वर्तमान दोनों बता देते हैं । बहुत से साधु सन्यासियों का चरित्र ढोंगी भी होता है । इसलिए सिद्ध बाबा पर उनका संदेह भी होता है । सिद्ध बाबा की उद्भावना तत्कालीन समाज में नाथ सम्प्रदाय के उद्भव का संकेत है । चन्द्रा द्वारा की गई पूछताछ लोकजीवन में व्याप्त रूढ़ियों एवं तंत्र-मंत्रों की ओर संकेत करता है ।

---

1. पुनर्नवा - पृ. - 65.

आचार्य द्विवेदी की दुर्लभ क्षमता यह है कि वे अपने अगाध पाण्डित्य से ऊपर उठकर सामान्य लौकिक मनुष्य की दृष्टि से देखते है । पुनर्नवा में घटित घटनाओं के माध्यम से हमारे सांस्कृतिक इतिहास की पुनर्रचना की है । चन्द्रा लोहा है, जड़ है । बिल्कुल प्रकृति की भांति जिसमें गति ही गति है । गति को संयमित करने की शक्ति नहीं जो केवल लोकजीवन के लोगों की विशेषता है । प्रकृति के विषय में ऐसा ही प्रश्न चन्द्रमौलि करते हैं । "मैं जब निर्झर को वेगपूर्वक नीचे की ओर दौड़ता देखता हूँ तो मन रो उठता है । क्यों इतनी व्याकुलता है इसमें ? इन पर्वतों पर फैली हुई विशाल वनराजि रूप से, रंग से गन्ध से न जाने किस अज्ञात प्रियतम् के लिए आँख बिछाए बैठी है । क्या यह सारा आयोजन केवल बात की बात है ? क्या इसका कोई प्रयोजन ही नहीं ?" चन्द्रा के माध्यम से द्विवेदी जी ने व्यवस्था से विचलन को जो जड़ प्रकृति की महिमा है, चित्रित किया है । जड़ प्रकृति वास्तविकता है । जड़ आकर्षण की वास्तविकता है । इस लिए व्यवस्था को इसकी चिन्ता होनी चाहिए । चूँकि पुनर्नवा का कथानक लोकगाथा से ग्रहीत है इसलिए चन्द्रा की पटरी लोरिक की विवाहिता पत्नी से बैठा दी गई । वरना आज मृणाल मंजरी और चन्द्रा का इतना परस्पर सौहार्द बहुत स्वाभाविक नहीं लगता--रूचिकर भी नहीं । लेकिन ये घटनाएं मध्यकालीन है । उसमें यदि सौतों में झगड़ा होता था तो कभी-कभी प्रेम भी हो जाता रहा होगा ।

पुनर्नवा में सम्राट समुद्रगुप्त भी दिखालाई पड़ते है । किन्तु उनसे सम्बन्धित घटनाएं विशेष महत्व नहीं रखती है । समुद्रगुप्त का चरित्र चित्रण एक प्रतापी सम्राट के रूप में नहीं किया गया है । उनके जीवन से सम्बन्धित घटनाएं उपन्यास में बहुत महत्वपूर्ण स्थान नहीं बना पाती है । इसके मूल में यह बात निहित है कि यह उपन्यास मूलत: लौकिक धरातल पर लिखा गया है । वह रचनात्मक धरातल पर केवल मध्यकालीन और प्रकारान्तर से आधुनिक युग के लोक-जीवन का ही चित्रण नहीं करता बल्कि वर्ण-व्यवस्था को भी तोड़ता है । श्याम-रूप ब्राहमण है और गोपाल आर्यक आभीर । किन्तु श्यामरूप पढ़ता-लिखता नहीं

कुश्ती लड़ता है । "श्यामरूप धार्मिक ब्राहमण की अपेक्षा मल्ल ही अधिक बनता जा रहा है ।" श्यामरूप नट-मंडली में शामिल होता है और एक अज्ञात कुल की खरीदी हुई बालिका मांदी से प्रेम करता है । श्यामरूप संस्कृत है, ब्राहमण देवता "छबीला" तद्भव नाम ग्रहण करता है और मांदी से व्याह रचाता है । वह ऐसा काम करता है जो आज भी लोकजीवन के लोग ही कर सकते हैं, मूल्यांध बुद्धिजीवी नहीं ।

आचार्य पुरगोभिल द्वारा चंद्रा-श्रीचन्द्र के व्यवहार चर्चा के समय ग्रामीण स्त्रियों द्वारा गाया हुआ गीत स्त्रियों की मन:स्थिति एवं संस्कार को बहुत ही सशक्त रूप में उजागर करता है । पुनर्नवा में लोकस्तुति और लोकायवाद दोनों को झूठा माना गया है । गोपाल आर्यक स्वप्न देख रहा है - मानों मृणाल उससे कह रही हो " लोक का भय मिथ्या है । कर्तव्य का निर्णय बाहर देखकर नहीं किया जाता तुम्हारा निर्णायक तुम्हारे भीतर है ••• लोक भय झूठी प्रवंचना है, आत्मभय दुर्भेद्य कवच है । ••• कौन क्या कहता है, कहने दो । तुम्हारा अन्तर्यामी क्या कहता है वही मुख्य वस्तु है ।" [1]

इन विविध प्रसंगों को कथा के एकसूत्र में बांधने के साथ ही उपन्यास-कार ने लोकजीवन की मार्मिक विविधता का सुन्दर चित्रण किया है । कई प्रसंगों में पात्र छिपकर अन्य पात्रों की गतिविधियों को देखते है या उनकी बातों को सुनते है । पुनर्नवा में आर्य देवरात रेभिल-भीमा प्रसंग को छिपकर ही सुनते हैं । जिसके द्वारा पता चलता है कि ग्रामीण जन गोपाल आर्यक को ल्वारिक या लोरिक नाम से पुकारते है ।[2] इस तकनीक का प्रयोग आचार्य द्विवेदी ने अपने अन्य उपन्यासों में भी किया है । वाणभट्ट की आत्मकथा का बाण-भट्टिनी

1• पुनर्नवा - पृ• - 110.
2• पृ• - 141.

और महामाया के वार्तालाप को छिपकर ही सुनता है । चारूचन्द्रलेख का राजा सातवाहन अनेक प्रसंगों को छुपकर सुनता है । तथा नाटी माता के नृत्य को छिपकर ही देखता है ।

एक स्थान पर चन्द्रमौलि के माध्यम से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि किसी पुरूष पात्र ने स्त्री को पाने के लिए तप क्यों नहीं किया । भारतीय लोकगीतों में शायद ही कोई ऐसा उदाहरण हो जिसमें किसी पुरूष ने स्त्री को प्राप्त करने के लिए तप किया हो । व्रत या पूजा-पाठ किया हो । जबकि पतियों को पाने के लिए स्त्रियों ने बहुत जप-तप किए । आज भी लोकजीवन में कुमारी लड़कियाँ अच्छे वर की प्राप्ति हेतु व्रत धारण करती हैं । ऐसा हमारे ही यहाँ क्यों है ? इस प्रश्न को उठाकर द्विवेदी जी ने इसके समाधान की ओर इशारा नहीं किया है । यहीं तक नहीं भारतीय लोकजीवन या लोकसाहित्य में यह प्राय: देखा जाता है कि उसमें नारी ही विरहिणी होती है,रोती है, कल-पती है, मरती है परन्तु पुरूष थोड़ा भी नहीं।चौंसठ कलाओं से परिपूर्ण नट-नागर कृष्ण और गोपियों का प्रसंग यही तो है । जब हम इसपर विचार करते हैं तो हमें यह ज्ञात होता है कि हमारा समाज पितृसत्तात्मक है । स्त्री पुरूष पर ही आश्रित है । इसलिए हमेशा पुरूष का दबाव उसे स्वीकार करना पड़ा । इसके अतिरिक्त भारत हमेशा विदेशी शक्तियों से आक्रान्त रहा । हारना भी पड़ा, दास भी बनना पड़ा । इन युगों की हार ने एक हीन भावना भारतीय लोक-मानस में भर दी । फलत: स्त्री को छिपाकर दबाकर अनपढ़ रखकर निरीह बना दिया गया और पुरूष उन संस्कृति की नकल करके बहुनारी छेला और विलासी हो गया । जहाँ तक साहित्यिक परम्परा का प्रश्न है, तो हम देखते हैं कि श्रीमद्भागवत और ब्रह्मवैवर्त्त पुराण में कृष्ण और गोपियों के प्रेम का जो स्वरूप है वही समस्त भारतीय लोकगीतों में विद्यमान है । वही लौकिक स्वरूप हमें पुनर्नवा में भी दिखाई देता है ।

जनजीवन से सम्बन्ध रखने वाली घटनाओं में वेश्या का प्रसंग अवश्य ही आता है । भारतीय गणतंत्रों में भी गणिका का उल्लेख प्राप्त होता है । जिसे राजकीय सहायता दी जाती थी वह नृत्य, संगीत आदि के द्वारा लोगों का मनोरंजन किया करती थी । गणिका का स्थान वेश्या से कुछ ऊँचा होता था । पुनर्नवा में भी मंजुला और बसंत सेना की सृष्टि गणिका के रूप में की गयी है । वेश्या सम्बन्धी धारणा को व्यक्त करने वाला श्लोक चंदनक द्वारा मृणालमंजरी को दिया जाता है ।

"वाप्यां स्नाति विचक्षणो द्विजवर: मूढोऽपि वर्णाधम:
फुल्लां नाम्यति वायसोऽपि हि लतां यां नम्यते वर्हिणा ।
ब्रह्मक्षत्रविशस्तरंति च यथा नावा तथैवेतरे,
त्वं वापीव लतेव नौरिव जनं वेश्यासि सर्वं भज ॥" ।

श्यामरूप और मांदी का प्रथम दर्शन में व्यक्त प्रेम की घटना लौकिक परिपार्श्व से पूर्ण है । मांदी की कातर मूर्ति का ध्यान आते ही शार्विलिक के मन में हूक सी उठती है । इस प्रेमी युगल में अन्य प्रेमी युगलों से इस रूप में भिन्नता है कि पुरूष स्त्री को पाने के लिए व्याकुल है । श्यामरूप मांदी के ही कारण जंभल चौधरी की मंडली छोड़कर पहले मथुरा फिर उज्जयिनी जाता है । उसे यह भी महसूस होता है कि उसी की कुण्ठा के कारण मांदी को कष्ट भोगना पड़ा । उज्जयिनी में संकट पड़ने पर भागकर दूर चला जाता है तो भी वह मांदी के विषय में सोचता रहता है । उसकी इच्छा होती है कि वह मांदी को छुड़ाए बिना कैसे रह सकता है । वह सोचता है कि "उसे भूल जाना यदि विवेक है तो विवेक निश्चित रूप से घटिया चीज है ।"[2] इसके जरिये हमें श्यामरूप की लोकजीवन में व्याप्त मानवतावादी दृष्टि का पता चलता है ।

---

1. पुनर्नवा - पृ. - 45.
2. " - पृ. - 158.

इस प्रकार पुनर्नवा की ऐसी अनेक घटनाएं हैं जो लोकजीवन में मिलती हैं । सब मिलाकर पुनर्नवा की घटना योजना पर लोकजीवन के विविध आयामों का व्यापक प्रभाव पड़ा है । घटना योजना में लोकजीवन के कलात्मक विलास को, सौन्दर्य प्रेम को, जीवन आदर्श को एकदम से आत्मसात् कर लिया गया है । पचा लिया गया है । लोकजीवन में पुरूष और स्त्रियों के आदर्श व गुण अत्यन्त सहज हैं । जो गुण वर्ण, प्रभा, राग, रूप लावण्य आदि को निखार देने में समर्थ हों साथ ही साथ कृत्रिम या बनावटी न हों वे ही सहज गुण कहलाते हैं । इन सहज गुणों से युक्त कार्य ही असली होता है । पुनर्नवा के पात्रों के सभी क्रिया-कलाप अत्यन्त सहज एवं स्वाभाविक हैं ।" उसमें व्याप्त सम्पूर्ण गतिविधियों, क्रिया-कलापों, कलात्मक प्रयासों, धार्मिक-सांस्कृतिक क्रियाओं आदि समस्त कार्यों एवं घटनाओं के पीछे जो चेतना काम करती है वह लोकसांस्कृतिक चेतना ही है ।

****

अध्याय - 3

पुनर्नवा के पात्रों में लोकतात्विक चेतना

पुनर्नवा में अनेक प्रकार के चरित्र प्रस्तुत हुए हैं । इनमें से अधिकांश चरित्र लोकजीवन का प्रतिनिधित्व करते हैं । उन्हीं के माध्यम से लोक-मानस और लोकव्यवहार को घटनाओं द्वारा प्रस्तुत किया गया है । इन पात्रों की गतिविधियाँ लोकजीवन की आस्थाओं से गतिशील होती हैं । साथ ही साथ लोक-प्रचलित मूढ़ाग्रहों और अंधविश्वासों से पूरी तरह संचालित भी । नट-मंडली के प्रसंग में हम देखते हैं कि अनैतिकता से ग्रस्त उनका जीवनगत परिवेश एवं उश्रृंखला से ग्रस्त समाज से उभरने वाले वे चरित्र एक विशिष्ठ लोकजीवन की इच्छाओं एवं क्रियाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं । पुनर्नवा के समस्त पात्र सामाजिक व्यवस्था के प्रतीक रूप में सामाजिक बनावट और लोकसांस्कृतिक निष्ठा के मूर्तिमन्त स्वरूप हैं । इसमें प्राय: सभी स्त्री पुरूष पात्र जन सामान्य को अपनी ओर इसलिए आकृष्ट करते हैं कि उनका पौरूष अप्रतिम है । उनकी नैतिकता उच्च कोटि की है । स्त्री पात्र सतीत्व तथा प्रेम की प्रतिमूर्तियाँ हैं । उनका बलिदान और समर्पण सभी कुछ लोकजीवन के अनुरूप चकित करने वाला है । पुरूष और नारी चरित्र अपने कार्य-कलापों के द्वारा हमें अभीभूत कर लेते हैं । प्रत्येक दशा में लोकजीवन की महिमामयी लोकसांस्कृतिक गरिमा को उजागर करते हुए हमारी नैतिकता तथा लोकसांस्कृतिक आस्था को शक्ति प्रदान करते हैं । पुरूष एवं स्त्री-चरित्रों का क्रमश: अलग-अलग विश्लेषण करना समीचीन होगा ।

(क) पुरूष पात्र

उपन्यास के प्रारम्भ में हमारा परिचय देवरात से होता है "उनके गौर शरीर, प्रशस्त ललाट, दीर्घनेत्र, कपाट के समान वक्षस्थल, अजानुविलंबित बाहुओं को देखकर इसमें कोई संदेह नहीं रह जाता कि वे किसी बड़े कुल में उत्पन्न हुए है । ••• वे वास्तव में साधु पुरूष थे, उनका एक मात्र व्यसन दीन-दुखियों की सेवा करना बालकों को पढ़ाना और उन्हीं के साथ खेलना था ।[1] इतना सब होते हुए भी एकांत में धुनी रमाने वाले वैरागी नहीं थे । वे ब्राह्मण धर्म की मान्यताओं में विश्वास करते है । उसके अन्धानुयायी तो नहीं है किन्तु उससे अलग होकर भी नहीं चल पाते । वे यदि श्यामरूप को ब्राह्मण-पुत्र होने के नाते शास्त्र का अध्ययन करने की सलाह देते हैं तो दूसरी ओर गणिका पुत्री मृणाल मंजरी को पाल-पोसकर गोपाल आर्यक से उसकी शादी भी करते है । वे उस भारतीय प्रगतिशील बुद्धिजीवी का प्रतिनिधित्व करते हैं जो सामाजिक मान्यताओं का अंधानुकरण तो नहीं करता । लेकिन उसमें विद्यमान असंगतियों का खुलकर विरोध भी नहीं कर पाता । वे एक सामान्य जन की तरह प्रेमी पुरूष भी है । नृत्यकला एवं संगीत में भी रस लेते है । "छलित नृत्य में नर्तक या नर्तकी को उन भावों को स्वयं अनुभव सा करना चाहिए जो अभिनीत हो रहे है । इसी को भावानुप्रवेश कहते है ।"[2] लोकगीत विरहा सुना तो भावाभिभूत होने के कारण उनके नेत्रों से अविरल अश्रुधारा झरने लगी और कह उठे - "धन्य हूँ देवि जो वाग्देवता को प्रत्यक्ष देख रहा हूँ ।" देवरात की लोकरूचि का पता हमें तब चलता है जब हम यह देखते है कि वे उत्साह पूर्वक मल्ल समाक्षयों में भी भाग लेते थे ।

1• पुनर्नवा - पृ• - 9,10.
2• " - पृ• - 13.

देवरात अत्यन्त लोकप्रिय व्यक्ति हैं । लोक के प्रति त्याग की भावना उनके चरित्र में दिखाई देती है । वे साधारण जनजीवन में वैसे ही पूज्य हैं जैसे राम और सीता पूजे जाते थे । ••• "प्रजा में देवरात और शर्मिष्ठा राम-जानकी की भांति श्रद्धा, विश्वास और प्यार की दृष्टि से देखे जाने लगे ।[1] लोकजीवन में उदारता का अनन्य भाव होता है । यही अनन्य भाव देवरात के चरित्र को उदात्त बना देता है । ऐसे उदात्त चरित्र वाले लोगों में दानशीलता का महान गुण भी विद्यमान होता है जिसके नाते वह अपना सर्वस्व लोकहित में निछावर कर देता है । इसी बात को व्यक्त करते हुए मंजुला कहती है - "भगवान ने तुम्हें ग्रहीता भाव दिया ही नहीं, तुम्हारा स्वभाव देना है । लुटाना है, अपने आप को दलित द्राक्षा की भांति निचोड़कर महाअज्ञात के चरणों में उड़ेल देना है ।" [2]

लोकजीवन के एक सामान्य पुरुष की तरह उनमें हमेशा प्रेम प्रवाहित होता रहता है जो अत्यन्त सहज और स्वाभाविक है । मंजुला के प्रति भी वही प्रेम है जो कभी शर्मिष्ठा के प्रति था । परन्तु वह प्रकट तब होता है जब मंजुला महामारी की शिकार होती है । वे मंजुला की धरोहर को एक गृहस्थ की तरह पालते-पोसते हैं । उनका हृदय एक निश्छल पिता का भी हृदय है । मृणाल का जब विवाह होने जा रहा है उस समय उनका हृदय टीस से भर जाता है । सारा ममत्व और वात्सल्य फूट पड़ता है । "देर तक मृणाल को गोदी में लिए देवरात रोते रहे । देर तक पिता की गोद में अलससिंचित मृणाल सुबकती रही । ••• बोले बेटी तू दो माताओं की प्यारी बेटी है । पर आज दोनों नहीं है । रह गया है यह अभागा, अकिंचन पिता देरात । विवाह के समय पिता अपूर्ण होता है । देवरात तो और अपंग है । मुझे ही तेरी माता का

---

1. पुनर्नवा - पृ. - 58.
2. " - पृ. - 246.

काम करना है। हाय! मेरा विश्वास हिल रहा है। आस्था टूट रही है। ••• तेरा अकिंचन पिता तुझे कुछ नहीं दे सकता। पर मेरी प्यारी बेटी स्वर्ग से तेरी ही माताएं वह सब देंगी जो बेटी को दिया जा सकता है।"।

उपन्यास का नायक लोरिक है। गोपाल आर्यक लोरिकी (लोरिकायन) का लोरिक है। यूँ तो उसके चरित्र में लोककथा के लोरिक की तरह अतिशयोक्तिपूर्ण बातें नहीं कही गई हैं फिर भी वह वीर, साहसी, उदार और लहुरावीर का उपासक है। लोरिकायन के लोरिक से काफी साम्य होते हुए भी जहाँ लोरिकी का लोरिक चंदा से शादी करने स्वयं जाता है और युद्ध में राजा को पराजित कर उसे ब्याह लाता है, वहाँ पुनर्नवा का आर्यक लोकलाज के भय से भागा-भागा फिरता है। वह अपने स्वयं तक को नहीं पहचानता। इसलिए उसे भटकना पड़ता है। अंत में उसे धूता जैसी भाभी मिल जाती है जिससे वह अपने स्वभाव के बारे में जानकारी हासिल करता है।

गोपाल आर्यक वीर, कुशल होने के बावजूद भी अपनी कूटनीतिक समझ का परिचय नहीं देता। वह लोगों की बातों की ओर अधिक ध्यान देता है। वह सारी स्थितियों का एक शासक व राजनीतिज्ञ के बतौर विश्लेषण नहीं करता, अपितु उदार व लज्जाशील युवक के रूप में अधिक सोचता है। वह इसकी चिन्ता करता है कि उसकी अन्तरात्मा की आवाज न सुनकर दुनियां क्या सोचेगी। लोकापवाद उसके लिए दुर्भेद्य चट्टान है। सम्राट समुद्रगुप्त का जब वह पत्र पाता है तो सोचता है - जो लोग श्रद्धा से आज जय-जयकार करते हैं। वे घृणा से कल मुँह फेर लेंगे। वे क्या सोचेंगे ? कौन उसकी बात सुनेगा ? कौन उसपर विश्वास करेगा ? कल हर सैनिक के मन में घृणा की लहर उठेगी।" यह एक प्रश्न उसके सारे किए कराये पर पानी फेर देता है। उसकी सारी वीरता यहीं टकराकर चूर-चूर हो जाती है। उसके लिए लोकापवाद दुर्भेद्य चट्टान बन जाता है।

।• पुनर्नवा - पृ• - 62.

"आर्यक के ये शब्द उसके चरित्र को कमजोर बनाते हैं । अनिष्ट की आशंका से और लोकापवाद के भय से आर्यक ऐसा सूरवीर और पराक्रमी भी पलायनवादी बन जाता है । यह उसके चरित्र का बहुत बड़ा दोष है ।

लोकजीवन में जन्म लिए, पले और बढ़े नवयुवक की भांति आर्यक एक भोला कोमल और स्नेहिल भाई भी है । मैया श्यामरूप के चले जाने पर वह व्याकुल हो उठा । चौदह वर्ष की अवस्था में ही अकेला घर से निकलकर भाई को खोजने के लिए तैयार हो गया । मृणाल का निषेध भी उसे नहीं रोक सका । मिन्नत करते हुए बोला, "नहीं मैना ; मैं अपने बड़े भाई के बिना जी नहीं सकता ।" लोकजीवन में विनय और शील का बहुत महत्व होता है । गुरू को देखते ही उनके चरणों में गिरना उसका नियम था । अपने लजालु और संकोची स्वभाव के कारण अनेक कष्ट उसे उठाने पड़े । चन्द्रा को प्रेम करते हुए भी वह उससे भागता रहा । एक बार जब दुवृत्तों के प्रहार के कारण उसके सिर से खून बहने लगा और चन्द्रा ने रक्त धारा को रोकने के लिए अपनी पूरी साड़ी फाड़ डाली और लगभग निर्वस्त्र हो गई तो आर्यक उसे देखकर लजा गया । सोमेश्वर उस घटना को बताता हुआ कहता है "लजाने की क्या बात थी काका मगर स्त्रियों के सामने वे सदा इसी प्रकार लजा जाते थे । अब भी उनकी आदत वैसी ही है ।" [1] आर्यक के ये क्रियाकलाप लोकजीवन में पले पढ़े नवयुवक के संकोची स्वभाव और भोलेपन को चरितार्थ करते हैं ।

गोपाल आर्यक लोकजीवनगत कर्तव्यों को पहचानता है । "चन्द्रा के सेवाभाव, अनन्य प्रेम और निष्ठा को जानते हुए भी वह पत्नी के प्रति कर्तव्य को निभाने का भरसक प्रयास करता है । चन्द्रा से दूर-दूर भागता है और हलद्वीप का अधिपति बनने पर पत्नी की मान रक्षा के लिए उसके कक्ष में स्वयं जाता ही नहीं उसके चरणों पर सिर रखकर क्षमा मांगता है - "देवि- प्रिये, क्षमा करो इस भण्ड को ।" [2] बाद में भी कई बार उसे अनुताप दग्ध दिखाया

---

1. पुनर्नवा - पृ. - 289.
2. डॉ0 शान्तिस्वरूप गुप्त - पुनर्नवा समीक्षा, पृ. - 109.

गया है । विन्ध्याटवी के शिला खन्ड पर लेटा-लेटा वह मृणाल की तपस्या, प्रेम भावनादि का स्मरण कर चिरकाल तक दुखी रहता है । "हाय-हाय, मैंने कैसी देवी को कष्ट दिया । अबला त्राण की भावना उसमें जन्मगत थी । मृणाल का पत्र पाते ही वह विशाल कन्त लेकर निकल पड़ता है । मृणाल को आश्वस्थ करते हुए कहता है - "मेरे रहते तेरी छाया भी कोई छू नहीं सकेगा । ...हलद्वीप गुंडों और लम्पटों से भर गया है । मैं इस भोली बालिका को दुर्वृत्त लोगों की दया पर नहीं छोड़ सकता ।" [1]

पुनर्नवा का दूसरा युवा पात्र श्यामरूप है जो गोपाल आर्यक का बड़ा भाई है । वह परिस्थितिवश एक ब्राहमण कुमार की बजाय महामल्ल शार्विलक बनता है । वह ब्राहमण धर्म के उत्थान पतन का प्रतीक भी है । नट-मंडली में शामिल होने पर भी वह यज्ञोपवीत का त्याग नहीं करता । पर मथुरा में वृद्ध ब्राहमण से पूछने पर अपने को संस्कार भ्रष्ट कहता है । वह लोरिकी के संवरू से अभिन्न होते हुए भी कुछ भिन्नता रखता है । उसे अपने बाहुबल पर विश्वास है । वह कुल-बधुओं का सम्मान करना जानता है । वीरक द्वारा चन्द्रा को छैंछी कही जाने पर वह कहता है । "देख रे वीरक ! कुल वधुओं के बारे में ऐसी हल्की बातें नहीं किया करते !" [2] एक सामन्त का सेवक होने पर भी वह लोक के प्रति अपनी सम्बद्धता का त्याग नहीं करता है । वह दु:खी जनों का हमेशा पक्ष लेता है । अपने अन्नदाता चन्द्रसेन को वह पीठ पर लादकर किसी सुरक्षित स्थान पर ले जाना चाहता है पर असंख्य जनों का कातर क्रन्दन सुनकर उसका मन प्रश्न करता है - "इतने असहाय लोगों को छोड़कर भाग जाना क्या उचित है ? एक ओर अन्नदाता की प्राण-रक्षा और दूसरी ओर असंख्य भय व्याकुल लोगों को ढाढस बंधाना, दोनों में से उसे कौन सा मार्ग चुनना चाहिए ।" [3]

---

1. पुनर्नवा - पृ. - 52.
2. पुनर्नवा - पृ. - 83.
3. " - पृ. - 252.

उसकी अन्तरात्मा में सामान्य असहाय लोगों को ढांढस देते हुए मर जाना अच्छा है । आवाज आती है और वह चन्द्रसेन को छोड़कर असहाय स्त्री-बाल-पुरूषों को ढाढस बँधाने चल देता है ।

नटों की दूषित मंडली में भी उसका संयम बना रहा । लोकजीवन में मदिरापान करना और पराई-स्त्री की ओर आँख उठाकर देखना भी पाप माना जाता है । श्यामरूप ने नट-मंडली के उश्रृंखल वातावरण में रहते हुए भी कभी न तो मदिरापान किया न तो किसी स्त्री की ओर आंख उठाकर देखा ही । देवर-भाभी का नाता लेकर भाभियाँ ठिठोली करती हैं । परन्तु वह मात्र मुस्कराकर रह जाता है । न तो प्रत्युत्तर देता है न कोई भी छेड़छाड़ । एक नटिनी के फूहड़ परिहास से तो घबराकर भाग ही खड़ा होता है । मांदी की ओर वह आकृष्ट अवश्य हुआ पर आसक्ति का कारण मांदी का रूप सौन्दर्य कम था, उसकी करूणा जनक स्थिति अधिक । उसने मांदी का उद्धार करने का प्रयत्न लोकजीवन में अबला त्राण की भावना से ही किया । रूपाकर्षित के कारण नहीं । अपने भावों का विश्लेषण करते हुए वह सोचता है - "आरम्भ उसके प्रति करूणा से हुआ । उसके अन्तर्यामी जानते हैं कि उसमें कलुष का स्पर्श भी नहीं था ।" मुखरा भाभी से यह जानने पर कि मांदी का भी उसके प्रति आकर्षण है, वह उसकी ओर खिंचा था । चोरी से बढ़कर पाप लोकजीवन में और कुछ नहीं माना जाता । मांदी को वसन्त सेना के आश्रय से मुक्त कराने के लिए जब पांच सौ सुवर्ण मुद्रा का प्रश्न उसके सामने उपस्थित हुआ, और एक क्षण चोरी करने का भी विचार उसके मन में कौंधा तो उसका हृदय आत्मग्लानि से भर उठा, "शार्विलक, अब चारी करेगा ? फट जाओ धरित्री, इस पाप चिन्तक को निगल जाओ ! धिक् !" [1]

श्यामरूप के चरित्र का सबसे सबल पक्ष उसका सुकोमला भाऊक परिवार प्रेमी और उदार स्वभाव है । छोटे भाई आर्यक उसकी पत्नी मृणाल और भतीजे

---

1. पुनर्नवा - पृ. - 151.

शोभन की बातें वीरक के मुख से सुनकर वह जिस प्रकार कभी संतप्त कभी उल्लसित हो उठता है, उससे उसकी सहृदयता, भावुकता और स्नेह का परिचय मिलता है । मन ही मन बच्चे की शिशु क्रीड़ाओं की कल्पना का स्नेह रस में पगने लगना आर्यक के अकेलेपन की बात सोच-सोचकर चिन्तित हो जाना, पति के चले जाने पर मृणाल पर आने वाले संकट की कल्पना करके उद्विग्न हो जाना आदि इस बात का प्रमाण है कि बज्र जैसी छाती में सुकोमल लोकमन धड़कता था । मन्दिर में पुत्र वियोग से व्यथित दम्पति के प्रति भी उदार, स्नेहपूर्ण और विनयशील स्वभाव का प्रमाण है । आर्य देवरात श्यामरूप के गुरू हैं । गुरू के प्रति उसके हृदय में असीम श्रद्धा और भक्ति का भाव है । उसे वह एक जगह व्यक्त करता है । युद्ध में उलझे होने पर भी गुरू से कहता है "कृत्कृत्य हूँ आर्य ! असमय का मूक प्रणाम स्वीकार हो । नागरिकों को सम्बोधित करते हुए बोला - बोलो गुरू देवरात की जय ।" [1]

दण्डधरों द्वारा पीछा किये जाने पर भागते हुए श्यामरूप ने जिस धैर्य, सहिष्णुता, प्रत्युत्पन्नमति और साहस का परिचय दिया, वह यदि उसके मल्लमौणि सम्मान सूचक नाम को सार्थक करता है तो मांदी वृद्ध दम्पति, आचार्य देवरात, आर्यक, मृणाल व उसके पुत्र शोभन के प्रति उसके विचार लोकभाव एवं लोक-चिन्ता के परिचायक हैं । यदि उसका चरित्र और व्यक्तित्व वज्रादपि कठोर है तो कुसुमादपि कोमल भी । इन दोनों बातों का सुन्दर समन्वय श्यामरूप के चरित्र में हुआ है ।

सुमेर काका का चरित्र आचार्य द्विवेदी की लोकरंजित कल्पनादृष्टि की देन है । जो लोकजीवन को अभिव्यंजित कर अपनी फक्कड़ाना मस्ती, स्पष्ट-वादिता और व्यवहारिकता के कारण प्रभाशाली बन गया है । वे लोकजीवन के सहज बोध में विश्वास करते हुए आडम्बरपूर्ण दिखाने में विश्वास नहीं करते ।

---

1. पुनर्नवा - पृ. - 243.

आयु में बड़े होते हुए भी समवयस्कों की सी मित्रता रखने वाले ; बाल, वृद्ध, युवक सबके मित्र, अपनी मस्ती और फक्कड़पन से प्रत्येक मंडली को सजीव बनाने और हर मौके पर आनन्द की वर्षा करने वाले सुमेर काका अपने यौवन काल में महावीर थे । पर बाद में कुछ ऐसी घटनाएं - पत्नी की मृत्यु - एक मात्र कन्या का पितृगृह से विदाई के समय ही नदी में डूब जाना घटित होने के नाते वे किसी एक के नहीं सम्पूर्ण लोक के हो गए । सारे बच्चों को अपना मान उन्हें स्नेह करने लगे ।

सुमेर काका का चरित्र स्वभावत: फक्कड़, मस्त और सरल है । कोई भी समाचार उनकी चिन्ता का विषय कदापि बनता ही नहीं है । बातें करने में तो वे इतनी निपुण हैं कि - चीटीयों की लड़ाई की बात उतनी ही रसीले ढंग से बताते हैं जितनी राजाओं के युद्ध की । उनके लिए मारपीट उतनी ही रसदायक है जितनी शादी-विवाह । जो कहना होता है धड़धड़ाकर कह देते हैं कि "सुमेर काका एक ही बात जानता है । सज्जन है ; चरण की धूल लो, जो दुर्जन है नाक तोड़ दो । जो डरता है वह देवी की उपासना के बारे में पूछना ही छोड़ दे । ••• देवी क्या है रे ? तेरे भीतर जो अभय है, वही देवी है । पिचाशी क्या है, जानती है ? तेरे भीतर जो भय है वही पिचाशी है ।"[1] काका के कथनों में गतिशीलता है । वे कोई भी बौद्धिक विवेचन नहीं करते । अपितु अपने व्यवहारिक ज्ञान के बल पर ही कहते हैं । वे प्राय: सूक्ति में बातें करते हैं - "गुरू गया है राजा को मनाने और चेला गया है लहुरावीर को जगाने, या "जागे का समपना सोये के सपने से भी कहीं अधिक झूठ है - कहकर लोकजीवन में प्रयुक्त लोकोक्तियों के प्रति अपनी दृढ़ पकड़ का परिचय देते हैं ।

सिद्ध बाबा के पास मृणाल के चलने का आग्रह उन्होंने उसके प्रति स्नेह के कारण मान तो लिया ; परन्तु उन्हें यह स्वीकार न था कि सिद्ध जो

1• पुनर्नवा - पृ• - 45.

भी मन में आये, उल्टा सीधा कहे और ये चुप मारे बैठे रहें । खरी बात कहने में वे किसी के सामने यहाँ तक कि सम्राट के सामने भी विचलित नहीं होते । चन्द्रा के प्रति जो उनके मन में कुत्सित अवधारणा बन गई, उसे उन्होंने उसे उसके मुँह पर ही कहा है। उसे देखते ही उन्होंने अपना मुँह फेर लिया । बे-मन से आशिर्वाद देते हुए बोले — "सुखी रह, सच्चरित्र बन, परमात्मा तेरा मुँह काला न होने दें ।" फिर बोले — "जा यहाँ से यह कुल बधू का घर है । तू यहाँ कैसे आयी ? जा अपने घर जा । भाग जा, जल्दी भाग जा । तूने अपना भी मुँह काला किया और हलद्वीप का भी काला किया । जा-जा यहाँ से हट ।" [1]

उनकी फक्कड़ाना मस्ती और हँसी के पीछे उनका दृढ़निश्चयी स्वभाव और शौर्य छिपा था । इसी कारण लोक में उनका सम्मान था । उनकी निश्छलता और स्पष्टवादिता एवं बाहुबल को देखकर ही उन्हें व्यवस्था जानने के लिए उज्जैन भेजा गया । वह अपने स्वयं पर भी हँसना जानते थे । अपने को अटूट गंवार व पागल कहते थे । "तेरा सुमेर काका भी पागल है और तू भी पगली है । पागलों की अलग सेना बनेगी ।" उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे अपनी कमजोरी को जानते हैं और उसे प्रकट करने में थोड़ा भी संकोच नहीं करते - " देवरात तर्कों का कोड़ा मार-मार कर उस द्वार की ओर ढकेल देता है जहाँ से घुटने टेके बिना भागना भी कठिन है । ••• हार जाता हूँ बिटिया, बुरी तरह हार जाता हूँ । पर हार नहीं मानता ।" [2] इसी प्रकार चन्द्रा का पति क्लीव है । क्लीव से एक स्त्री की शादी कैसे धर्म सम्मत मानी जाय ? सुमेर काका इसका विरोध करते हुए कहते हैं — "मेरा अभियोग यह है कि श्रीचन्द में पुंसत्व है ही नहीं, और चन्द्रा के साथ उसका विवाह धर्म-सम्मत नहीं हुआ । यह विवाह चन्दा के पिता ने कन्या की इच्छा के विरुद्ध कराया है । जो मेरी दृष्टि से सामाजिक बलात्कार है ।" [3]

1• पुनर्नवा - पृ• - 113.
2• पुनर्नवा - पृ• - 45.
3• " - पृ• - 154.

सहज बुद्धि और फक्कड़पन उनके स्नेहमय लोक स्वभाव के ही अंग थे। अपनी पुत्री की मृत्यु के बाद सारे बच्चों को अपना मान लेते हैं। मृणाल पर तो उनका अगाध स्नेह है। आजीवन उसके सुख की चिन्ता करते हैं। मृणाल के उदास मुख को देख उनका चेहरा उदास हो जाता है, मुरझा जाता है। "ले इस बार नाती से उलझना पड़ रहा है। कहता है मैं भी पूजा करूँगा। अरे बाबा तू क्या पूजा करेगा ? तू तो स्वयं देवता है।" — उनका यह कथन ममतामय सहज लोकमन का परिचायक है। उनके सम्बन्ध में मृणाल का यह कथन एकदम सत्य है कि "काका तुम्हारा चित्र एकदम सात्विक है, निष्कलुष है, मन हृदय पवित्र है।"

उपन्यास में समुद्रगुप्त को सामंती परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि समुद्रगुप्त महान विजेता, वीर, विद्वान और संगीत प्रेमी के रूप में चित्रित किया गया है, परन्तु साथ ही साथ उसकी कमियों को भी चित्रित किया गया है। परम्परागत नैतिक मूल्यों का पोषक और उन्नायक होने के नाते वह एक लोकप्रिय शासक के रूप में हमारे सामने आता है। लौकिक मान्यताओं के पुर्नवीक्षण को प्रोत्साहन देने की उदारता तो उसमें है पर समदर्शी और अलक्ष विद्वानों की स्वीकृति के बिना अपनाए आचार को वह उश्रृंखल स्वैराचार मानता है। विधर्मी विदेशी स्वैराचार को लोकजीवन के लिए घातक समझता है। चन्द्रा के मुख से यह सुनकर कि वह आर्यक की विवाहिता पत्नी न होकर मनोवृता है ; उसकी आँखें चढ़ जाती हैं। पर सुमेर काका जैसे लोक सेवी जन की बात को ध्यान में रखते हुए शान्त हो जाता है।

समुद्रगुप्त हमारे समक्ष लोकवत्सल और लोकपालक सम्राट के रूप में आता है। युद्ध अभियान के समय भी उसका कड़ा आदेश होता है कि चाहे कुछ भी हो जाय सामान्य जन का उत्पीड़न न हो। सेना समस्त लोक का विश्वास अर्जित करे। अपनी इसी लोकपालक नीति के कारण वह स्वयं अपने कार्यों एवं निर्णयों का आत्मालोचन करता है। सुमेर काका की कही बातें उसे विक्षिप्त

कर देती है । लोकजीवन की सुखशान्ति के लिए ही वह अपनी धर्मनीति, समाजनीति और राजनीति लोकजीवन के अनुरूप निर्धारित करता है । उसका विजय अभियान देश को एकसूत्र में बाँधने एवं दुर्मद लोगों का विनाश करने के लिए है ।

लौकिक गुणों को पहचानने एवं उसका सम्मान करना उसके चरित्र की विशेषता है । अपने ननिहाल लिच्छवि राज में आर्यक की वीरता व साहस देख कर वह उसे अपना मित्र बनाता है । वह आर्यक को अपना नर्मसखा समझता है । आर्यक के पलायन से क्षुब्ध होकर उसका कारण स्वयं पर थोपते हुए उसका कहना है "समुद्रगुप्त दूसरों के लिए राजाधिराज हो चक्रवर्ती सम्राट हो, तेरे लिए तो वह केलि सखा ही है । ··· मित्र के निर्णय में त्रुटि रह गयी हो तो मित्र नहीं समझाएगा तो कौन समझाएगा ··· समुद्रगुप्त तुम्हें भागने नहीं देगा । मित्रघात नहीं होने देगा ।[1] समुद्रगुप्त की ये सारी विशेषताएं उसकी लौकिक प्रतिबद्धता को द्योतित करती है । इन पात्रों के अतिरिक्त चन्द्रमौलि, आचार्य पुरुगोभिल, माढ्व्य शर्मा, श्रुतिधर शर्मा वृद्ध ब्राहमण, चन्दनक, वीरक आदि है । आचार्य पुरुगोभिल एक प्रगतिशील आचार्य है । वे संस्कारों एवं व्यवस्थाओं के परिमार्जन पर बल देते है । वे शास्त्र मर्मज्ञ है परन्तु लोक मानस में व्याप्त बातों को अधिक महत्व देते है । क्योंकि वे जानते है कि आज जो लोकमानस की कल्पना में स्वीकार्य है, कल वही यथार्थ धरातल पर स्वीकार होगा । उनका कहना है कि "सुन लिया धर्मावतार, हर गांव में हर हाट में, हर गली में ये गाने सुनाई देंगे । आज आप इसे केवल भाव लोक का विद्रोह कहकर टाल सकते है । पर लोकमानस में शुष्क धर्माचार और रूढ मान्यताओं के प्रति यह भावलोक का विद्रोह किसी दिन वस्तु-जगत के विद्रोह का रूप ले सकता है ।"[2] वैसे आचार्य पुरुगोभिल का प्रसंग पूरे उपन्यास में कम ही है, लेकिन प्रभावशाली है । उनकी गंभीर शास्त्र

1· पुनर्नवा - पृ· - 285.
2· " - पृ· - 154.

चर्चा एवं प्रगतिशीलता अपनी अमिट छाप छोड़ती है ।

आचार्यपाद तो विद्वान और प्राड्गविवाक हैं लेकिन वहीं आर्य श्रुतिधर ब्राहमणवादी व्यवस्था के जीते-जागते उदाहरण हैं । वे ओझाउल पाठशाला में अध्यापन कार्य अपना जीवन यापन करते हैं । माढ़व्य शर्मा तो अपनी मूर्खता के दाम वसूलते हैं । उनमें विदूषक, हँसोड़ और साथ ही व्यंग्यकार का चरित्र अधिक उभर कर आया है । कवियों पर वे व्यंग्य करते हुए कहते हैं – कभी-कभी कवि लोग भी समझदारी की बात करते हैं । वह जानता है श्लोक लिखने का क्या अर्थ है - धन कमाओ यश कमाओ, सुख से रहो । घर में कोई अच्छी सी गृहिणी लाओ, सद्गृहस्थ बनो । राजा का सम्मान पाओ, प्रजा का मनोरंजन करो बस ।" [1] उनकी दुनियाँ अपनी गृहस्थी के आसपास है । उनकी ब्राहमणी ही उनके लिए सबकुछ है । अपनी हँसोड़ प्रवृत्ति के कारण गांव की बहू-बेटियों युवकों-वृद्धाओं सभी द्वारा दादा सम्बोधन से सम्मानित है । इस तरह के चरित्र लोकजीवन में अक्षय ही देखे जा सकते हैं ।

(ख) नारी पात्र

चूँकि पुनर्नवा लोकजीवन पर आधारित है इसलिए जिन नारी पात्रों को लेकर घटनाओं का ताना बाना बुना गया है, उनसे सम्बन्धित समस्याएं, घटनाएं चिरंतन हैं,सर्वकालिक हैं । "पुनर्नवा में विशेष रूप से नारी के तीन रूपों को विचित्र घटना क्रम का आधार बनाया गया है । पहले वर्ग में उन नारी पात्रों को गिनाया जा सकता है जो अपने शुद्ध पवित्र आचरण के कारण वंदनीया हैं । इसमें मृणाल मंजरी, धूता, शर्मिष्ठा, चन्द्रसेन की पत्नी आती हैं । दूसरे वर्ग में उन नारी पात्रों को लिया जा सकता है जो मूल रूप में प्रेयसी हैं । अपनी प्राणाहुति देकर अपने प्रिय का पूजन अर्चन करती है । जो प्रेम के क्षेत्र में अनुकरणीया

---

1. पुनर्नवा - पृ. - 98.

है । इसमें चन्द्रा, मांदी और राजकन्या को लिया जा सकता है । तीसरे प्रकार की नारी पात्रों में गणिका नारी पात्रों को रखा जा सकता है जो नगर-वधुएं होकर भी अपनी निष्ठा, व लगन में किसी भी सती नारी से कम महिमामयी नहीं है । इन नारी पात्रों में मंजुला, बसंत सेना को गिना जा सकता है ।" 1

आचार्य द्विवेदी ने अपने नारी पात्रों के माध्यम से भारतीय लोक-संस्कृति को व्यापक रूप से चित्रित किया है । परम्पराओं और लोक परम्पराओं को सूक्ष्मदर्शिता से पहचाना है । इस यात्रा क्रम में लोकजीवन की कठोरता से भी उनका परिचय हुआ है और स्थूल धर्मान्धता व रूढ़िवद्धता से भी । साथ ही साथ इनके विद्रोह से भी । "द्विवेदी जी प्रेम का आधार नारी को मानते हैं पुरूष को नहीं । उनके उपन्यासों की नायिकाएं जो ज्यादातर हैं, एक शब्द में वे पतिताएं हैं ।" 2

पुनर्नवा में सबसे मुखर चरित्र चन्द्रा का है । प्रारम्भ में चन्द्रा का परिचय एक वाचाल लीलामयी स्त्री के रूप में होता है । वह बड़े नाटकीय ढंग से अपने पूर्व परिचित आर्यक को अपने विवाह के बाद भी अपने प्रेमजाल में बाँधने में सफल हो जाती है । वह प्रेमोन्मादिनी है । वह अपनी तेजस्विता के बल बूते आर्यक को अपने वश में करने में सफल हो जाती है । भले ही लोकनिन्दा के भय से आर्यक उसके प्रेम को स्वीकार नहीं करता । लेकिन चन्द्रा के प्रेम में वह शक्ति है जो सामाजिक रूढ़ियों को छिन्न-भिन्न कर एक नया रास्ता अख्तियार करती है । "यह प्रेम आप सुविधा के लिए कह सकते हैं कि उस सामंत विरोधी रूप में आता है जिसमें सूफियों का प्रेम प्रकट हुआ है - जहाँ मजहब की कठोर दीवारों को प्रेम का तीर तोड़ता है । यह भक्तों का प्रेम था जिसने

---

1. डॉ0 विमल शर्मा - साठोत्तर हिन्दी उपन्यासों में नारी के विविध रूप, पृ॰- 112.
2. डॉ0 नामवर सिंह - आचार्य हजारी प्रसाद संगोष्ठी संकलन में अध्यक्षीय भाषण, पृ॰ - 66.

सामाजिक बंधनों और रूढ़ियों को तोड़कर विद्रोह किया । इसलिए यह प्रेम बराबर आप देखेंगे कि तमाम पुरानी रूढ़ियों के विद्रोह के रूप में है ।" [1] चन्द्रा प्रेम के उसी रास्ते पर चलती है । इस संदर्भ में उसका धैर्य और सहन-शक्ति श्लाघनीय है । वह डटकर सामाजिक रूढ़ियों का सामना करती है ।

चन्द्रा सामाजिक मान्यताओं की सीमाओं को तोड़ती, उफनती, वेगवती नदी है जो अपने स्वच्छन्द प्रेम का उन्माद लिए प्रेमी-सागर की भुजाओं में समा जाने को आतुर है । साथ ही वह स्वयं सिद्धा परितृप्ता उस धारा के समान है जो समुद्र में आत्मसात् होकर स्वयं सागर का एक भाग बन गई है । चन्द्रा के ये रूप उसे विशिष्ठ नारी पात्रों की पंक्ति में लाकर खड़ा कर देते हैं । चन्द्रा का प्रेम आरम्भ में ऐसा प्रेम है जो सीमा नहीं जानता उचित अनुचित का विवेक नहीं रखता । चन्द्रा के अन्तस में बैठी अभिमानी नारी अपने अस्तित्व का तिरस्कार सहन नहीं करती । कहती है - मेरा विवाह मेरी इच्छा के विरुद्ध मेरे पिता ने एक ऐसे मनुष्य रूप धारी पशु से कर दिया जो पुरूष है ही नहीं । हलदीप के मुँह में कालिख लगती है तो सौ बार लगा करे ! जो समाज इस प्रकार के विवाह की स्वीकृति देता है वह अपने मुँह में कालिख पहले ही पोत लेता है । मैंने आर्यक को ही अपना पति माना था । वह मेरा था, और रहेगा ।" [2]

एक साहसी, निर्भीक और स्वच्छन्द युवती का हृदय चन्द्रा के पास है । इसी सब का परिचय देती हुई वह येन-केन प्रकारेण अपने प्राप्य को प्राप्त करके ही रहती है । वह सारी सामाजिक रूढ़ियों को लोकनिन्दा को तलवों तले रौंदकर अपने अन्तर्यामी का इंगित स्वीकार करती है । अपने साहस और दृढ़ता का परिचय वह आर्यक को भीषण आग से बचाकर देती है । आर्यक जैसे

---

1. डॉ0 नामवर सिंह - आचार्य हजारी प्रसाद संगोष्ठी संकलन में अध्यक्षीय भाषण, पृ. - 66.
2. पुनर्नवा - पृ. - 114-115.

गबरू जवान को अपने कंधों पर शिशुवत् उठा लेती है । लोकनिन्दा के भय से आर्यक द्वारा परित्यक्ता होने पर वह सारी लाज छोड़कर आर्यक के घर आ जाती है जहाँ उसे बुरी तरह लांक्षित होना पड़ता है । करम की छूँछी, अभागिन, कुलटा, चरित्रहीना, बटाकी आदि कटूक्तियाँ उसे सुनने को मिलती है । लेकिन सभी का सामना वह बड़े ही स्वाभाविक ढंग से करती है ।

वह स्वयं दारुण अन्तर्वेदना की ज्वाला में दीर्घकाल से जलती रहती है किन्तु अपने सर्वस्व को प्राणपण से प्रेम करने वाली मृणाल के प्रति उसका ममता भाव प्रबल ममतामयी भगिनी सा है । ऐसा भाव हमें लोकजीवन में ही प्राप्त हो सकता है । वह निष्कलुष भाव से अपना हृदय चन्द्रा के सामने खोलकर रख देती है - "सारी दुनियाँ कहती है कि चन्द्रा पापिनी है, कुलटा है, आर्यक को पथभ्रष्ट किया है, करने वाली है पर चन्द्रा जानती है कि वह पापिनी नहीं है । आर्यक मेरा जनम-जनम का साथी है । अगर ऐसा न होता तो क्यों पागल की तरह उसके पीछे भागती फिरती । चुम्बक के पीछे भागने वाला लोहा क्या पापी है ?" [1] चन्द्रा का यह स्वरूप किसी भी कुलवधू से कम महत्वपूर्ण नहीं है ।

मृणाल और उसके पुत्र शोभन का सान्निध्य जब उसे मिलता है तब उसका सुप्त मातृत्व जाग उठता है । वह बाहर से श्रृंगारमयी प्रिया होकर भी अन्दर से वात्सल्यमयी माँ है । इसीलिए अपने लिए कुछ भी न बचाकर सब कुछ नि:शेष भाव से निचोड़कर दूसरों को दे देती है । वह आर्यक के पुत्र शोभन को अथाह ममत्व देती है । अपने को तिल-तिल जलाकर दूसरों को शीतलता प्रदान करती है । स्वयं सम्राट समुद्रगुप्त के विचार से "चन्द्रा के रूप में मानों सेवा ही प्रत्यक्ष रूप धारण करके उपस्थित हुई थी । तिनिक्षा ही मानों गंगा-यमुना की शामक-शोभा देखने आ गई है, निरन्तर सेवा में निरत दिखती है ।" [2] आर्यक का पुराना साथी सोमेश्वर जब चन्द्रा भाभी का बखान करता है तो सुमेर काका गद्गद हो जाते हैं । "मां" या "भाभी" का सम्बोधन उसे उन्मत्त बना देता है ।

---

1. पुनर्नवा - पृ. - 177.
2. " - पृ. - 285.

क्योंकि लोकजीवन में इन सम्बोधनों में अप्रत्यक्ष रूप से सौभाग्यवती स्त्री और उससेजुड़े सम्बन्धों-नातों का आभास होता है ।

नारी केवल नारी होने के कारण ही मिथ्याचारिणी नहीं है । उसके पीछे इसी समाज का अनुदार उत्तरदायित्व झंडा गाड़े खड़ा है । चन्द्रा ने विवाहिता स्त्री के मिथ्याचार को धर्म-शास्त्रों की दुहाई देकर नहीं स्वीकारा है । समाज ने एक नपुंसक व्यक्ति से बरबस उसे बांध दिया है । यह बंधन सामाजिक मर्यादा की अंतिम कसौटी वैवाहिक है और चन्द्रा तिल-तिलकर अपने जीवन को नष्ट करने की अपेक्षा उस अलंघ्य देहरी को लांघ जाती है । वह जिस साहस और एकनिष्ठा से आर्यक का वरण करती है और कठोर सेवा भाव द्वारा दलित-द्राक्षा के समान स्वयं को नि:शेष भाव से उलीच देती है । "वह मर्यादा-हमारी रूढ़ मान्यताओं पर प्रहार करती है । समाज की मोहान्धसत्ता पुरुष-प्रधान समाज का एकाधिकार और नारी का स्वेच्छा से आत्मसमर्पित स्वरूप चन्द्रा के निर्णय के माध्यम से एक साथ सिर उठाकर खड़े हो गये हैं ।" [1] इस प्रकार चन्द्रा में अद्भुत साहस है । वह समाज की सड़ी-गली मान्यताओं को तोड़ती है । सुमेर काका चन्द्रा के साहस, लौकिक प्रेम एवं प्रगतिशीलता के गुणों का बखान करते हुए कहते हैं - "चन्द्रा अद्भुत साहसी लड़की है । उसने सारे समाज की लोकनिन्दा की, तलवों से रौंदकर अपने अन्तर्यामी का इंगित स्वीकार किया ।" [2]

मृणाल मंजरी हलद्वीप की नगर श्री मंजुला की पुत्री तथा देवरात की पालित कन्या है । देवरात ने उसे लोकजीवन की नारी-सुलभ कलाओं का ज्ञान कराया । व्रत और उपवास में कुशल बनाया तथा अन्य नारी सुलभ लोक-कलाओं से परिचय कराया । मृणाल सेवा और सतीत्व की, मर्यादा, तपस्या और साहस की स्रोतस्विनी है । आर्यक जब लोकनिन्दा के भय से पीड़ित होकर एकाग्र मन

---

1. सं० डॉ० रामकुमार गुप्त - साहित्य संगम आ०ह०प्र० द्विवेदी, पृ० - 118.
2. पुनर्नवा - पृ० - 278.

से मृणाल और चन्द्रा में से किसी एक को भी नहीं अपना पाता तो ऐसे समय में वह दिग्भ्रमित पति को ऐसे कर्तव्य बोध कराती है कि वैसा लोकजीवन में ही पत्नी द्वारा संभव है। वह कहती है - "लोक का भय मिथ्या है। कर्तव्य का निर्णय बाहर देखकर नहीं किया जाता। तुम्हारा निर्णायक तुम्हारे भीतर है। जो भी तुम्हारे पास है उसी से उसकी पूजा करो। कमजोरियां सब उसे समर्पित कर दी जाती है तो शक्ति बन जाती है। ••• लोक-भय झूठी प्रवंचना है, आत्मभय दुर्भेद्य कवच है। ••• कौन क्या कहता है कहने दो।"[1]

मृणाल की विशालता तो इसमें और उभर कर सामने आती है कि एक संस्कार संपन्न स्त्री होते हुए भी उसमें लोकजीवन की अन्य सामान्य स्त्रियों की तरह सौतिया डाह नहीं है। जिस चन्द्रा ने उसकी जिन्दगी खलल कर दी उसे ही वह बड़ी बहन का सम्मान देकर घर में स्थान देती है। तमाम लोगों और चन्द्रा के पति की ओर से चन्द्रा पर कुत्सित आरोप लगाए जाने पर मृणाल ही दृढ़ शब्दों में उसका प्रतिवाद करती है। वह स्पष्ट कह देती है कि चूँकि श्रीचन्द को चन्दा का पति होने का अधिकार नहीं है अतः राजा या प्रजा को इस विषय में विवाद बढ़ाने का कोई भी अधिकार नहीं है। यहाँ मृणाल का त्याग गौरवपूर्ण है। वह पति एवं पुत्र पर एकाधिकार न मानकर दोनों पर चन्द्रा को समान अधिकार देती है। अन्ततः चन्द्रा जैसी स्वच्छन्द आचरण वाली महिला भी उसके चरणों पर लोट कर पश्चाताप करती है। वह अभीभूत होकर कह उठती है - "••• और तूने फिर भी इस हतभागिनी को घर में घुसने दिया ? झोंटा पकड़कर निकाल नहीं दिया। लात घूँसे से उसका भुर्ता नहीं बना दिया। ••• इन चरणों की धूल ही उन्मार्गगामिनी को रास्ता दिखा सकती है। मैना ! तू सचमुच सती है।"[2]

---

1. पुनर्नवा - पृ. - 110.
2. " - पृ. - 184.

यहाँ यह बात ध्यान योग्य है कि वेद शास्त्र धर्म आदि से न डरने की बात तो लोग प्राय: किया करते हैं लेकिन लोक भय ने न डरने की बात कोई शायद ही करता है । डॉ० नामवर सिंह के अनुसार "यही वह प्रेम शक्ति थी जिसने चाहे जायसी को ताकत दी । यह प्रेम का वह आराधक या साधक रूप है जो बड़ी से बड़ी सत्ता के सामने भी निर्भय और निर्भीक रह सकता है ।"

उसके बारे में एक बात अवश्य उठती है कि वह चंद्रा को कसकर डांटती क्यों नहीं ? काका स्वयं चंद्रा को सब कुछ कहने में कोई कोर कसर नहीं छोड़ते लेकिन वह उसे कुछ नहीं कहती । जबकि सामान्य लोकजीवन में यह देखा जाता है कि स्त्रियों में सौतिया डाह तो अवश्य विद्यमान होता है, भले ही वह प्रत्यक्ष रूप में प्रकट न हो । मृणाल मंजरी कुछ भी विरोध प्रकट नहीं करती इसका कारण यह भी हो सकता है कि यह सब कुछ अपने पति के लिए सहन करती है । इसी नाते वह सौत के भी साथ रहने को तैयार है । अपने इसी पातिव्रत्य के कारण वह सती शिरोमणि कही जाती है । "गांव की स्त्रियां मृणाल मंजरी को मैना - मांजर - देई कहती हैं । कहती ही नहीं सचमुच मानती है कि वह देवी है ।" [1]

सयानी होते ही वह साधारण लोगों की पीड़ा को समझने लगती है । अत्याचारों की सूचना पाकर वह तिलमिला उठती है । उसका हृदय विद्रोह कर उठता है । वह सोचती है - "स्त्रियां क्या सचमुच अबला है ? क्या विधाता ने स्त्रियों को सचमुच भार स्वरूप बनाया है ?" [2] उसे अपनी विवशता असह्य हो उठती है । देव-तुल्य पिता की चिन्ता दूर करने उत्पीड़ितों की सहायता करने और उनमें आत्मबल संचारित करने के लिए वह कृत-संकल्प हो जाती है । पिता के सहमत न होने पर उसका मन विद्रोह कर उठता है । इस तेजोमय रूप के साथ-साथ उसके चरित्र का कोमल पक्ष भी है । उसके किशोर मन

---

1. पुनर्नवा - पृ. - 72.
2. " - पृ. - 38.

में उद्वेलित होने वाली भावनाओं का चित्रण उसे एक सहज किशोरी के रूप में उपस्थित करता है । आर्यक के चले जाने पर उसके बारे में जाने की उत्सुकता, उदासी, उससे मिलने की तड़प, चुहल, मुरझाए मुख पर आनन्द की आभा, मान के आँसू सभी उसके किशोर लोक-मन को चित्रित करते हैं । पिता के प्रति प्रेम श्रद्धा और अगाध आदर भाव देख उसका एक पुत्री का रूप उद्घाटित होता है ।

लोकमन में परमात्मा की अगाध करूणा पर लोगों का अपार विश्वास होता है । मृणाल में भी परमात्मा पर पूर्ण विश्वास है । आर्यक के अचानक भाग जाने पर अकेले निराशापूर्ण असहाय स्थिति में गोवर्धनधारी कृष्ण की मूर्ति की ओर देखती हुई अत्यन्त कातर भाव से प्रार्थना करती है । कार्तिक पूर्णिमा को गोवरधन धारण की लीला के अवसर पर नृत्य करती है । अनेक बार समाधि की स्थिति में संज्ञाशून्य हो प्रभु से एकतान हो जाती है । वटेश्वर तीर्थ के मंदिर में उसे तपोनिरता पार्वती की भांति समाधिस्थ देखकर ही सम्राट समुद्रगुप्त अभिभूत हो जाते हैं । निर्मल हृदय और सात्विक भावना वाली इस नारी में कोई संशय कोई द्वन्द्व कोई द्विविधा नहीं । वस्तुत: वह सती-शिरोमणि, अतिशय पति-परायण और भारतीय लोक-आदर्शों की मूर्तिमान प्रतिमा है ।

मंजुला छोटे नगर हलद्वीप की गणिका है । जो अपने रूप, शील, औदार्य और कला पटुता के लिए अत्यन्त लोकप्रिय है । गणिकाएं सामन्तवादी व्यवस्था की देन हैं । उन्हें तत्कालीन व्यवस्था में राजकीय संरक्षण प्राप्त होता था । मंजुला भी एक ऐसी ही गणिका है । वह केवल विशेष अवसरों पर आयोजित राजकीय उत्सवों में वह अपना नृत्य-कौशल दिखाती है । उसके अभिमान, आत्म-गौरव के सम्बन्ध में लोगों में अनेक प्रकार की किंवदन्तियां प्रचलित हैं । कहा तो यहाँ तक जाता है कि कला चातुरी के बारे में राजा भी उसकी आलोचना करते में हिचकते हैं किसी को कुछ में न समझने वाली उस रूप गर्विता का मान-मर्दन कुलूत देश के वीतराग राजकुमार देवरात द्वारा हो जाता है ।

मंजुला भी देवरात को प्रेम कर जीवन के ऐश्वर्य को त्याग मनसा-वाचा-कर्मणा सांसारिक सुखों से वैराग्य धारण कर लेती है । वह अपना अधिकांश समय पूजा-पाठ में व्यतीत करती है । व्रत उपवासों का विधिवत उद्यापन करती है । उसकी वीणा में अब केवल विरह के स्वर झंकृत होते हैं । अब वह नृत्य के रसिकों को विलासवृत्ति का साधन नहीं माती ; महाभाव का साधन मानती है ।

चूँकि मंजुला की मुखश्री देवरात की पत्नी शर्मिष्ठा से बहुत कुछ साम्य रखती है । इस कारण देवरात क्षणमात्र उसके रूप पर मुग्ध हो अतीत में भटक जाते हैं, किन्तु तुरन्त उनके अन्तस् के देवता उन्हें सावधान कर देते हैं और एक हितैषी के रूप में मंजुला का हित साधन करते रहते हैं । नगर में महामारी का शिकार मंजुला को भी होना पड़ता है । मरणासन्न अवस्था में देवरात मंजुला के पास पहुँचते हैं । मंजुला अपनी दुधमुंही बच्ची को देवरात के हाथों सौंप अनन्त यात्रा को निकल पड़ती है । वह अपने मन की सारी व्यथा को एक पत्र के माध्यम से छोड़ जाती है । देवरात को प्राप्त उस पत्र में मिलता है उसमें गणिका का मुग्धकारी रूप नहीं बल्कि सात्विक, लौकिक भावमय करूण क्रन्दन था । गणिका होकर भी किसी पुरूष को सम्पूर्ण समर्पण की लौकिक तृष्णा उसमें विद्यमान है, ऐसा उसके पत्र से पता लगता है । उसका संस्कार परिमार्जित होकर उसे गणिका के संस्कारों से मुक्ति दिला साध्वी लौकिक नारी की मानिन्द किसी एक महत पुरूष के चरणों में निवेदित करने को इच्छुक है । मंजुला के समर्पण की लौकिक तृषा उसके पत्र की इन पंक्तियों से प्रकट होती है - "कैसे बताऊँ स्वामिन् मंजुला का जीवन कितना तृषित है । तुमने कहा था कि तेरा देवता तेरे भीतर है । मानती हूँ अवश्य होगा । पर तुम जो नहीं समझ सकोगे वह यह है कि स्त्री का देवता माध्यम खोजता है, ठोस ग्राह्यणीय माध्यम । साध्वी रमणियां पति का माध्यम पा लेती हैं । वे धन्य हैं, स्पृहणीय हैं । पर हाय, गणिका का माध्यम नहीं होता । वह जुगुप्सित भोग के निकट दावानल

में झुलसती रहती है । नारी का जीवन किसी एक को सम्पूर्ण रूप से समर्पित होकर भी चरितार्थ होता है ।" [1]

मंजुला में गणिका होते हुए भी नारीत्व और मातृत्व भी है । देवरात के आश्रम पर पहुँचते ही आश्रम के वर्द्धार पर दो सुन्दर बालकों को देख और उनकी भोली बातें सुन उसके मन में वात्सल्य भाव उदित हो जाता है । उसके हृदय की वात्सल्य भावना, संतान के प्रति चिन्ता एवं उसकी मंगलेच्छा देवरात को समर्पित प्रतोलिका एवं पत्र से प्रकट होती है । जो प्रतोलिका देवरात को प्राप्त होती है उसमें - "पहले परत के नीचे एक मुक्तादाम था - मोतियों का एकलरा हार । उसके नीचे पद्मरागमणि जड़ी हुई मुद्रिका थी, जो हाथी दांत के कंकड़ों और शंख के बने हुए वलयों के बीच रखी हुई थी । उसके नीचे दो शिरीष पुष्प की आकृति के कर्णावतंस थे, जो महीन हेम गुणों के हार के बीच रखे हुए थे । एक हाथी दांत की छोटी सी डिबिया में पीला सिन्दूर भी रखा हुआ था ।" [2] संतान के प्रति चिन्ता उसके पत्र से झलकती है - "इसकी जो मृणमयी काया है, वह परक्षा माता का दान है । और इसकी जो चिन्मयी ज्योति होगी वह तुम्हारे जैसे यशस्वी पिता की देन होगी । सो आर्य ! यह तुम्हारी ही कन्या है । तुम्ही इसके माता हो, पिता हो, गुरू हो । तुम्हारा धन तुम्हें ही समर्पित है । हाय, कभी प्रत्यक्ष मिलकर अपनी निदारूण वेदना तुम्हें बता पाती !" [3]

पुनर्नवा में देवरात-मंजुला के माध्यम से सामाजिक नियमों, परम्पराओं तथाकथित मर्यादाओं के दस्तावेजों को बार-बार उधेड़ा और सिला गया है । मंजुला एक गणिका होकर भी महाभाव की साधना करती है । अपने अहं का तिरोभाव करके प्रेरणा का श्रोत बनती है । समाज ने गणिका मोहासक्त रूप देखा

---

1. पुनर्नवा - पृ. - 56.
2. " - पृ. - 53.
3. " - पृ. - 52.

था किन्तु नारी देह के भीतर सुप्त देवता को कोई क्रान्तदर्शी पुरुष ही मान्यता दे सकता है । देवरात ने उसी देवता को जागृत किया था । मंजुला की लौकिक भूमि पर सम्मान देकर । वही मंजुला अपनी पुत्री का दायित्व देवरात को सौंप देती है और देवरात की वह पालिता पुत्री सौम्य और उच्च गुणों की शिक्षा लेकर अपने गृहस्थ जीवन में नारी सहिष्णुता की शिरोमणि के रूप में गणिका पुत्री होकर भी लोकजीवन में आदर की पात्र होती है । रूढ़ समाज की यह मान्यता कठोर हो सकती है मगर असम्भव नहीं ।

मांदी के माध्यम से आचार्य द्विवेदी ने समाज द्वारा प्रताड़ित, तिरस्कृत और लांक्षित नारी की व्यथा को साकार करने का प्रयास किया है । मातृ-पितृहीन अनाथ ब्राहमण बालिका घर वालों द्वारा घर से निकाली जाने पर विपदा की मारी किसी नटिनी की सहायता से नट-मंडली में आ फँसती है । फिर इसी प्रकार संकट में फँसी किशोरियों की भांति एक हाथ से दूसरे हाथ को बिकती रहती है । उपन्यास के उपनायक श्यामरूप का प्रथम परिचय इसी नट-मंडली में हुआ । लज्जा से सिकुड़ी, अपने को छुड़ाने के लिए छटपटाती इसी सोलह वर्ष की लजीली लड़की ने प्रथम भेंट में ही श्यामरूप का मन करूणा से ओतप्रोत कर दिया । मांदी का रूप हमें पूर्णत: आत्म-समर्पिता वेदनामयी, प्रणयिनी, उदास, समाज द्वारा प्रताड़ित नारी के रूप में मिलता है जैसा प्राय: हमारे लोकजीवन में देखने को मिलता है । दुवृतों से शार्दिलक द्वारा रक्षा होने और संज्ञा लौटने पर उसका फफकना, फिर बसन्तसेना के यहाँ जाते हुए मार्ग में फफक-फफक कर रोना और कहना "हाय आर्य ! मेरा उद्धार कैसे होगा ! ... मेरा उद्धार करो ।" [1] समाज की उस नारी वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है जो निष्पाप और निष्कलुष होते हुए भी समाज द्वारा प्रताड़ित की जाती है ।

एक सच्ची प्रेमिका के रूप में भी उसका चरित्र हमारे सामने उभरकर आता है । उसके वेदनामय रूप की झांकी ही नहीं प्रेमी के प्रति पूर्ण आत्म-

---

1. पुनर्नवा - पृ.-154.

विश्वास उसके कहे हुए इन वाक्यों में दिखाई देता है । "मैं पूर्ण रूप से आस्वस्थ हूँ कि आप मुझे केवल इसी समय निरापद स्थान में नहीं पहुँचा देंगे, परन्तु भविष्य में सदा-सर्वदा मेरी रक्षा करते रहेंगे । ••• अब मैं तुम्हारी हूँ ।" विदा होते समय उसकी और सतृष्ण नेत्रों से देखना उसके लौकिक रूप को प्रस्तुत करता है । उसका यही लौकिक रूप तब भी दृष्टिगत होता है जब श्यामरूप भानुदत्त द्वारा बन्दी बनाई गई मांदी और बसन्तसेना को मुक्त करता है । होश आते ही मांदी श्यामरूप को देख विह्वल भाव से उसकी गोद में लेट जाती है । बाद में श्रुतिधर द्वारा परिचय कराये जाने पर लज्जा के मारे निढाल हो जाती है ।

मांदी के स्वामिभक्त सेविका का जो रूप हमें दिखाई देता है वह मात्र लोकजीवन में ही प्राप्त हो सकता है । वह अपनी स्वामिनी बसन्त सेना की उदारता एवं दया से अभीभूत है । वह उसकी भूरि-भूरि प्रसंसा करती है । अन्ततः कह सकते हैं कि युग की चिरन्तन अमानवीयता का शिकार मांदी की स्थिति वास्तव में पुरूष शासित समाज के सामने एक चुनौती है । श्यामरूप उसका न केवल उद्धार करता है अपितु उसे स्वीकार भी करता है । "समाज की प्रतिक्रिया यहाँ मौन है । संभवतः बसन्तसेना जैसी गणिका का चारूदत्त जैसे सम्मानित श्रेष्ठी के प्रति प्रेम को उनकी पत्नी धूता भी स्वीकार करती है और तत्कालीन समाज भी । गुणग्राह्यता की यह स्वीकृति बदलते मानदण्डों एवं जीवन मूल्यों को भी चौंका देने वाली है ।" ।

लोकतात्विक दृष्टि से पुनर्नवा में धूता का चरित्र बहुत महत्वपूर्ण है । लौकिक गुणों से अभिमंडित, अपूर्व शील और व्रत धारण करने वाली ममता-मयी आर्य चारूदत्त की पत्नी धूता नख से शिख तक लौकिक रंगों में रंगी हुई है । पति को भी मां की तरह स्नेह और दुलार से अभिसिंचित करने वाली इस

।• डॉ० रामकुमार गुप्त (सं०) - साहित्य संगम आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ• - 121.

महीयसी ने सपत्नी द्वेष के सम्बन्ध में लोक-प्रचलित सभी उक्ति को धता बताते हुए स्वयं अपने पति की प्रेयसी नगर श्री बसन्तसेना को बुलवाती है । उसे मां की सी ममता देती है अन्ततः उससे घुलमिल जाती है । पतिव्रता के समान वह पति के खा लेने के बाद ही भोजन करती, भले ही कितने समय तक उसे निराहार रहना पड़े । पति का उदास चेहरा देख उसकी छाती फटने लगती है । भवानी से उसका कष्ट और चिन्ता दूर करने की प्रार्थना करती है । वह याचना करती है कि उसके पति के सारे कष्ट उस पर आ जायें । पत्नी के रूप में ये सारे गुण लोकजीवन के अतिरिक्त कहीं और देखने को नहीं मिल सकते ।

आर्यक को देखते ही उनका हृदय वात्सल्य भाव से आप्लावित हो उठता है । उसे वह मां के साथ-साथ भाभी का भी प्यार देती है । अनजाने में यदि कोई ऐसी बात मुँह से निकल जाती है जिससे आर्यक को कष्ट हो तो अपने कहे के लिए क्षमा मांगती है - "भाभी से कुछ भूल चूक हो गई क्या लल्ला ? नहीं मेरे लहुरे देवर, भाभी की बात का बुरा माना जाता है ? हाय राम, यह क्या हो गया तुम्हें ? अभी उनसे अभिमान पूर्वक कहा है कि देवर को प्रसन्न रखने में कुछ उठा नहीं रखूँगी और अभी तुम्हें चोट पहुँचा दी ? पैरों पड़ूँ लल्ला, खुश हो जाओ । भूल-चूक हुई हो तो क्षमा करो ।" [1] लोकजीवन के देवर-भाभी के बीच होने वाला परिहास भी देखने योग्य है - "अगर तुम मेरे देवर न होकर ननद होते, तो झगड़ भी लेती । विधाता ने गुण तो सब ननद के दिए हैं, बना दिया देवर !" वह सच्चे अर्थों में लौकिक नारी है । वह प्रतिदिन लक्ष्मी-विनायक का भूजन करती है, पंजर-शुकों को दाना चुगाती है होम एवं पितरों को तर्पण करती है । देवताओं की अर्चना करती है । अतिथि-सेवा को अपना धर्म मानती है । सब मिलाकर एक लोकजीवन में कुलवधू के गुण जो होते हैं सब उसमें विद्यमान हैं ।

---

1. पुनर्नवा - पृ॰ - 245.

इसके अतिरिक्त नारी पात्रों में शर्मिष्ठा, बसन्तसेना, वृद्धा तपस्विनी आदि नारी पात्रों का भी लोकतात्त्विक दृष्टि से बहुत महत्व है। नट मंडली की स्त्रियां तो लोकजीवन की एक जातीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व ही करती हैं। इस प्रकार द्विवेदी जी ने बड़े कौशल से सामाजिक परम्पराओं की पाटी पर खड़े होकर बंधी बंधाई लीक से हटकर चलने वाली लौकिक नारी का स्वरूप प्रस्तुत किया है, जहाँ नारी का क्रान्तिकारी रूप भी है और पार्वती का प्रतीक भी। इसीलिए वे नारियां बाहर से प्रिया से होकर भीतर से मां भी हैं। उनका शरीर यदि सौभाग्य की खोज में भाग रहा होता है तो मन वात्सल्य की ओर। अत: प्राय: सभी नारी पात्रों में प्रिया भाव, पुत्री भाव और मातृभाव सदा विद्यमान रहते हैं। पुनर्नवा में ये नारी पात्र एक नया क्रान्तिकारी रूप लिए समाज के सामने उपस्थित है। चन्द्रा सिद्ध बाबा से अनायास प्रश्न पूछ बैठती है - "सामान्य रूप से कहा जाता है और माना जाता है कि पति देवता होता है, उसकी पूजा करनी होती है। यह बात आज तक मेरी समझ में न आयी कि प्रेम में पूजा का स्थान कहाँ है और क्या है। बाबा, मुझे ये विचार भोंड़े लगते हैं।"[1]

आचार्य द्विवेदी ने पुनर्नवा में न केवल नारी के सहज, लज्जाशील भाउक और अतृप्त स्वरूप का अंकन किया है अपितु लोकजीवन की अकाट्य, अबाध प्रतिबद्धता की दुर्निवारता को भी सशक्त अभिव्यक्ति दी है। "नारी को अंधकार, माया-मोह मानने वाले मठाधीश एक बार द्विवेदी जी की आंखों से नारी शक्ति को देख पाते तो शायद आज सामाजिक जड़िमा की यह विडम्बना न होती।"[2] पुनर्नवा में नारी नि:शेष भाव से स्वयं को देकर भी

---

1. पुनर्नवा - पृ. -
2. डॉ0 रामकुमार गुप्त (सं) - साहित्य संगम आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. - 122.

निर्द्वन्द्व भाव से अपना प्राप्य मांग रही है । आचार्य द्विवेदी ने किसी भी आधुनिक प्रगतिशील की तथाकथित दृष्टि को अंगूठा दिखाते हुए धर्म और समाज को अपना संविधान बदलकर नया सत्व खोलने के लिए बाध्य कर दिया है । उनके शास्त्रज्ञ ने धर्म को नयी व्याख्या प्रदान की है तो उनका सामाजिक चिन्तन विद्वानों को नया आलोक देता है । साथ ही उनके पुरातन, लोकवादी पुरूष ने नारी को लौकिक मर्यादा दी है, पुरूष के दम्भी भावों को नकारकर जीने की भूमि प्रदान की है ।

****

अध्याय - 4

वातावरण एवं देशकाल में लोकतत्वों की स्थिति

देशकाल तथा परिवेश के चित्रण द्वारा पुनर्नवा में लोकजीवन को मूर्तिमन्त किया गया है। चूँकि पुनर्नवा की मूल संवेदना लोकजीवन ही है जिसमें उसके सम्पूर्ण पात्रों का चरित्र एक साथ सन्निहित है, इसलिए स्थूल रूप से सम्पूर्ण लोकचित्र अपने वैविध्य के साथ जिस परिवेश और वातावरण में संरचित होता है, वह लोकजीवन के आवरण का स्वरूप उद्घाटित करता है। वास्तव में लोकजीवन जिन समस्त विषयों और वस्तुओं को मिलाकर बनता है उसका एक भौगोलिक तथा चाक्षुष प्रत्यक्ष रूप भी है। धरती, बन, पहाड़, प्राकृतिक परिवेश, नदी, झरना, पशु पक्षी, मंदिर, मकान, व्यक्तित्व, रहन-सहन आदि जो कुछ भी दृष्टिगत होता है, वह सब लोकजीवन का आवरण है। पुनर्नवा में इस आवरण के विभिन्न चित्र संजोए हुए हैं। वे प्राय: घटनाओं की भूमिका के रूप में प्रस्तुत होते है और स्थानीय दृश्य विधान, रंग-ढंग तथा प्राकृतिक परिवेश के मिले-जुले रूपों में लोक की संज्ञा को चरितार्थ करते हैं।

पुनर्नवा की लौकिक कथा का सम्पूर्ण मंच और विकास परिवेश तथा देश काल के उन्हीं लघु आयामों में विभाजित तथा विकसित होता है। छोटी-छोटी घटनाएं पात्रों के क्रिया कलाप और कथानक का रंगमंच उससे बाहर हो ही नहीं सकता। चूँकि लोकजीवन की परिस्थितिगत रूपरेखा परम्परागत ढंग से बनती है और उससे लोकभावना और आस्था का निकटतम सम्पर्क रहता है इस लिए पुनर्नवा लौकिक परिवेशगत तत्वों से युक्त है। जैसे बटेश्वर महाराज, सिद्ध

बाबा, भवानी माई आदि । ये तथा इसी तरह के अन्य सांस्कृतिक तथा लोक-तात्विक विषय लोकजीवन और उसके परिवेश से युक्त पुनर्नवा में विद्यमान है । अत: पुनर्नवा के खंड चित्रों में परम्परा और लोकतात्विक चेतना का सहज समुदय दिखाई देता है ।

वातावरण के साथ ही देशकाल भी लोकतत्वों से अविष्ठित है । देशकाल का अर्थ है स्थान और समय । स्थान तो स्वत: लोकजीवन का विषय है और वह देश से अलग हो ही नहीं सकता । किन्तु काल देश निरपेक्ष सत्ता है । उपन्यास में लोकजीवन के विशेष सन्दर्भ में किसी काल विशेष को चित्रित करते समय उपन्यासकार उस जीवन से समय को निरपेक्ष नहीं रख सकता । यह संभव है कि समय के विकास के साथ लोकतात्विक स्वरूप में भी विकास और परिवर्तन हो जाय । लेकिन यह संभव नहीं कि एक ही जीवन में परिवेश और काल के स्तर भिन्न-भिन्न हों । कोई घटना अथवा चरित्रगत क्रिया-कलाप जिस परिवेश और देशकाल में नियोजित होती है, वह प्रत्यक्ष रूप से पात्र तथा कथा को भी प्रभावित करता है ।

पात्र तथा कथा दोनों की लोक-वृत्ति के साथ परिवेश और देशकाल का सहज समन्वय अपने आप स्थापित हो जाता है । इसीलिए हम देखते है कि पुनर्नवा में चरित्रगत परिवेश तथा देशकाल अथवा कथागत परिवेश लोक-वार्तागत संस्कारों से सापेक्षिक रूप से गहरे जुड़ा हुआ है । पुनर्नवा की हर घटना किसी लौकिक परिवेश में ही घटती है । जिन स्थितियों में ये घटनाएं विकसित होती है अथवा मोड़ लेती है उसमें भी लोकजीवन की विशेषताएं सम्पुटित रहती है । चूँकि ये सभी विशेषताएं लोकतात्विक है इसलिए स्वत: लौकिक परिवेश और लोकतत्वों के एकीकरण को सहज रूप से स्वीकार किया जा सकता है । इसी प्रकार चरित्र के भी विकास की परिस्थितियाँ होती है । यदि चरित्र में लोकतात्विक चेतना का वेग है तो नि:सन्देह उसका परिवेश भी उस वेग से मुक्त नहीं हो सकता । रही बात काल की, तो घटनाएं या चरित्र किसी

भी काल में क्यों न स्थापित हों यदि उनकी प्रकृति लोकतात्त्विक है तो काल उसमें किसी भी प्रकार को बाधा नहीं पहुँचा सकता । उदाहरण के लिए पुनर्नवा में चन्द्रा जैसी मामूली स्तर की नारी अंधविश्वासों को ढकोसला मान सकती है और सभ्यता की दृष्टि से समुन्नत सम्राट समुद्रगुप्त कभी-कभी अंधविश्वास ग्रस्त हो जाते है तो दोनों ही स्थितियों में समय और परिवेश घटना को प्रभावित नहीं करते बल्कि स्वत: प्रभावित होते है ।

पुनर्नवा की कथाकृति में वातावरण के निर्माण एवं लौकिक रंग देने के प्रयास में द्विवेदी जी देवरात जैसे सुसंस्कृत पात्र से बिरहा, छंद गवाया है जो लोकगीत का एक छंद है —

"दुल्लह जण अणुराउ गरू, लज्ज परब्बसु प्राणु ।
सहि मणु विसम सिणेह बसु, मरणु सरणु णहु आणु ।।
(दुर्लभ जन अनुराग बड़ि, लज्जा परवश प्रान ।
सखि मन विषम सनेह-बस, मरन-सरन, नहीं आन ।।)" [1]

इस प्रकार पुनर्नवा में चूँकि लोक का आग्रह विशेष रूप से है अत: उसके विभिन्न पात्रों की मानसिक गठन तथा उनके क्रिया कलाप का समीकरण लोकतात्त्विक चेतना के अनुपात में दिखाया गया है । काका के कार्यों में एकदम लोकरंग ही प्रस्तुत होता है - "पर वह क्यों आ रही है ? अगर ऐसा हुआ तो काका उसका झोंटा पकड़कर घसीटेंगे और यमराज के घर का रास्ता दिखा देंगे । इस घर में उसे पैर भी नहीं रखने देंगे । जनम की अभागिन, करम की छँछी चरित्रहीन, कुलटा ।" [2]

---

1. पुनर्नवा - पृ. - 27.
2. पुनर्नवा - पृ. - 113.

(क) वातावरण

लोकजीवन से सम्बन्ध रखने के कारण पुनर्नवा में सजीव वातावरण की निर्मिति हेतु प्राकृतिक पार्श्वभूमि का सजीवता पूर्ण चित्र अंकित किया गया है । लोकजीवन के विस्तार में जो कुछ है उसका सम्बन्ध वहाँ की प्राकृतिक परिस्थितियों से होता है । प्रकृति के परिपार्श्व से प्रभावित लोक-जीवन की समग्रता को चित्रित करना ही लेखक का मूल प्रतिपाद्य होता है । प्राकृतिक परिस्थितियों के द्वारा भी पुनर्नवा में सहज व्यक्तित्व की प्राप्ति होती है । पुनर्नवा में प्राकृतिक पार्श्वभूमि निर्विवाद रूप से अपेक्षित है । लोकजीवन की मिट्टी की अपनी विशेष गंध होती है जिससे समूचे लोकजीवन का वातावरण प्रभावित होता है । अनुप्राणित होता है । प्राकृतिक परिपार्श्व के अर्थत्व को पुनर्नवा में विशेष महत्व दिया गया है । क्योंकि इसके बिना उस वातावरण की निर्मिति संभव ही नहीं थी जिसमें लोकजीवन अपनी पूरी सजीवता के साथ विद्यमान हो पाता । पुनर्नवा में लोकजीवन के प्राकृतिक परिपार्श्व में अनेक प्रकार के फूल-फल, पेड़-पौधे, नदी-तालाब, बन आदि विद्यमान है । "उन दिनों मुझे नहीं मालूम था कि प्रकृति के कण-कण में एक अद्भुत वेदना विलसित हो रही है । ••• प्रथम मेघ वर्षण के समय जब धरती के आंचल में छिपे हुए बीज अंकुर के रूप में फूट पड़ते है तो मेरा हृदय हाय-हाय कर उठता है । ••• इन पर्वतों पर फैली हुई विशाल वन राजि रूप से, रंग से, गंध से न जाने किस अज्ञात प्रियतम् के लिए आंख विछाए बैठी है ।" [1] इस उद्धरण से यह स्पष्ट होता है कि पुनर्नवा में जिस प्राकृतिक परिवेश और वातावरण का सजीव चित्रण किया गया है वह भी लोकजीवन की तरह संवेदनशील और प्रभावपूर्ण है ।

लोकजीवन को लेकर लिखे गये उपन्यासों में जिस लोकजीवन की झांकी प्रस्तुत करता है वह जीवन सामान्यत: पिछड़ी हुई जातियों का ही होता

1• पुनर्नवा - पृ• - 89, 90.

है । ये पिछड़ी जातियां आभिजात्य जीवन की दुनियां से दूर लौकिक विस्तार में रहने वाली होती है । आचार्य द्विवेदी ने एक आदिम नट जाति के सांस्कृतिक परिवेश का बड़ा ही सजीव चित्रण किया है । नट लोग जमकर मदिरापान करते है पीते-पीते धुत्त हो जाते है । स्त्रियां भी पीकर मत्त हो उठती है । देवर का रिश्ता मानने वाले पुरूषों से ठिठोली करती है । कभी-कभी तो यह परिहास बहुत ही फूहड़ रूप धारण कर लेता है - "देवर आज आनन्द का दिन है । तुम्हारी भाभियों का निश्चय है कि तुम हममें से किसी एक को चुन लो । जिसे चुनोगे वही तुम्हारी सदा के लिए चेरी हो जायेगी ।"[1] इस जाति में आज भी यह देखा जाता है कि ऐसे अवसर पर नटनियां पुरूषों को लेकर आपस में झगड़ पड़ती है । अनाथ और भटकी हुई लड़कियों को प्रश्रय देने और पुन: उसे बेच देने में वे कोई भी पाप-पुन्न नहीं मानते है । नटों में मातृ-सत्तात्मक व्यवस्था आज भी विद्यमान है । नट-मंडली पर चौधरानी का ही शासन चलता है । पुनर्नवा की नट-मंडली में शामिल मांदी नाम की लड़की जो "श्रावस्ती के निकट के किसी गांव की अवमानिता कन्या थी । बेचारी सब समय रोती रहती थी । परेशान होकर चौधरानी ने उसे अच्छे दाम पर मथुरा की किसी गणिका के एक दलाल के हाथ बेच दिया । वह रोती हुई गई थी ।"[2] इस दृश्य के द्वारा आचार्य द्विवेदी ने लोकजीवन के एक सच्चे वातावरण को प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया है ।

पुनर्नवा का वातावरण अतीत काल के परम्परागत, सांस्कृतिक गतिविधियों, जीवन विधियों और कलात्मक अभिव्यक्तियों आदि के समवेत संस्कार से युक्त है । इसलिए वह एक ओर लौकिक प्रवृत्तियों और उपादानों से युक्त लोक-संस्कृति का स्पर्श करता है तो दूसरी ओर लोकजीवन की परम्परागत

---

1. पुनर्नवा - पृ. - 65.
2. " - पृ. - 158.

संस्कृति को भी उजागर करता है । इस प्रकार पुनर्नवा में लोकतत्व के वर्तमान स्वरूप की सम्यक अभिव्यक्ति एक साथ होती है अर्थात लौकिक वातावरण अपने अतीत तथा वर्तमान के साथ पूरी तरह से व्यक्त होता है । आभीर युवतियों का नृत्य-गान कुछ इसी तरह के वातावरण को व्यक्त करता है । क्यों उसमें गतिशीलता के नाते ये हर युग में विद्यमान रहते है और प्रासंगिक भी । "सुन लिया धर्मावतार, हर गांव में, हर हाट में, हर गली में ये गाने सुनाई देंगे । आज आप इसे केवल भाव-लोक का विद्रोह कहकर टाल सकते है । पर लोकमानस में शुष्क धर्माचार और रूढ़ मान्यताओं के प्रति यह भाव-लोक का विद्रोह किसी दिन वस्तु जगत के विद्रोह का रूप ले सकता है ।" [1]

गणिका का जीवन लौकिक वातावरण में प्राय: हेय दृष्टि से देखा जाता है । कभी गण-राज्यों के समय में वेश्याओं को सम्मान प्राप्त था किन्तु गुप्तकाल में उनका वह सम्मान न रह गया । पुनर्नवा में अमर से सम्मान दिखाने वाले लोगों की भी धारणा उनके विषय में हीन ही है । मंजुला को देवरात आश्रम की ओर जाते हुए देख हलद्वीप के लोगों का कहना होता है "जनम की विलासिनी, करम की मायाविनी गणिका अगर पूजा-पाठ करने लगे तो मानना होगा कि बबूल में भी कमल के फूल खिलते है, पनाले में भी सुगन्धि फूटती है, सर्पिणी भी पुजारिणी बन गई है ।" [2] यही देख मृणाल के मन में भी रह-रह कर अपने जन्म के विषय में खेद और जुगुप्सा के भाव उठते है । मंजुला वसंतसेना आदि अपनी-अपनी व्यवहार कुशलता और कला-साधना के कारण उनकी लोक-प्रियता थी । वे लोक प्रसंशा और साधुवाद भी पाती थीं परन्तु वे उन्हें नगर-श्री तो मानते ही है । सन्यासिनी माता के शब्द गणिका के सम्बन्ध में प्रचलित लोक-धारणाओं का प्रतिनिधित्व करते है - "सब लोग उसका सम्मान करते है । पर गणिका का सम्मान केवल छलना होता है । हृदय से उसे कोई मान नहीं

---

1. पुनर्नवा - पृ. 158.
2. " - पृ. 18.

देता, सब उससे पाने की ही आशा रखते है । ••• अब तो वह क्रय योग्य दासी बन गई है ।" ।

लौकिक वातावरण में नारी की समस्या को मांदी का चरित्र बड़ी कुशलता से खोलता है । मांदी का निरीह व्यक्तित्व अपने युग के अति-अमानवीय सामाजिक वातावरण से बार-बार टकराता है । उसकी नारी असहायता व्यवस्था को कई तरह से झेलती है । वस्तुत: वह मध्यकालीन लोकजीवन की नारी का प्रतिनिधित्व बड़े व्यापक ढंग से करती है । उसका द्वन्द्व केवल भावगत नहीं है । तत्कालीन वातावरण की दृष्टि से अधिक व्यापक, जटिल और विश्वसनीय है । लौकिक वातावरण को उसका चरित्र अधिक समर्थ तौर पर चित्रित कर देता है । यह अकारण नहीं है कि नटों का जीवन, स्त्रियों का व्यापार, धूत क्रीड़ा, जैसे चित्रण मांदी के चरित्र के साथ सम्बद्ध है । द्विवेदी के किसी अन्य उपन्यास में इस प्रकार के वातावरण का ऐसा विशद चित्रण नहीं हुआ ।

पुनर्नवा में लोकपरम्पराओं को बड़ी कुशलता से लौकिक वातावरण के निर्माण हेतु प्रस्तुत किया गया है । वास्तव में वे लोक परम्पराएं सतह से जुड़ी होने के नाते हर युग में जीवित रहती है । कालक्रमानुसार एक युग से दूसरे युग, दूसरे से तीसरे, इसी प्रकार हस्तान्तरित होकर आज के लोकजीवन में भी विद्यमान है । पुनर्नवा की सम्पूर्ण विषय-वस्तु के विस्तार में यदि एक ओर लोक-साहित्य है जिसमें विभिन्न लोकगीत है, लोकगाथाएं, लोक कथाएं आदि है तो इसी के साथ ही लोकाचार और समस्त रीति-रिवाजों का विविध रूप जिसमें नाना प्रकार के संस्कार उत्सव, लोकोत्सव पूजा-पाठ, व्रत-अनुष्ठान, पर्व-त्योहार, आचार-व्यवहार आदि भी है । लोक विश्वास और मान्यताओं के अन्तरगत जो

।• पुनर्नवा - पृ• - 184.

आज भी लोकजीवन में विद्यमान है जैसे - तन्त्र-मन्त्र, जादू-टोना, झाड़-फूँक का भी चित्रण इस उपन्यास में हुआ है। काका के साथ मृणाल का सिद्ध बाबा के आश्रम में जाना इसका प्रमाण है। बाबा कहते है - "हाथ तो दिखा दे त्रिनने ! दुनियां के दो ही आँखें होती है, तेरी तो तीसरी आंख भी खुली लगती है। ठीक कहता हूँ न, माँ ! मैंने अपना हाथ बाबा के सामने फैला दिया। बाबा चौक बड़े। बड़ा भरमना पड़ा है तुझे, माँ।" [1] इस प्रकार की अनेक लोकजीवन के तंत्र मंत्र, झाड़-फूंक, सिद्ध-योगी की घटनाओं द्वारा लोक-जीवन के वास्तविक वातावरण को उभारा गया है। पुनर्नवा में इन घटनाओं के द्वारा हमें लौकिक वातावरण की झाँकी मिलती है।

लौकिक वातावरण के निर्माण हेतु लोकजीवन में प्रचलित मनोविनोद, नृत्य-गीत आदि का भी चित्रण पुनर्नवा में हुआ है। हलद्वीप के सरस्वती विहार में नृत्यगीत के साथ ही साथ देश-विदेश के पहलवानों की कुश्तियां भी होती है। "बसंतारम्भ के दिन इस सरस्वती विहार में काव्य नृत्य संगीत आदि का बहुत बड़ा आयोजन हुआ करता था। उस दिन राजा स्वयं उन उत्सवों का नेतृत्व करते थे। कई दिन नृत्य-गीत के साथ-साथ अक्षरच्युतक, बिन्दुमती, प्रहेलिका आदि की प्रतियोगिताएं चलती थीं। ••• देश विदेश से आये हुए मल्लों की कुश्तियाँ भी।" [2]

पुनर्नवा में लौकिक वातावरण की सम्पृक्तता का स्वाभाविक चित्रण हुआ है। वातावरण स्थिर नहीं होता। गतिशीलता उसकी प्रवृत्ति है। यह वातावरण परिस्थितियों के अनुसार बदलता है। आचार्य द्विवेदी लोकजीवन से निकटतम रूप में सम्बन्धित होने के कारण लौकिक वातावरण के सारे उतार-चढ़ावों से सम्बद्ध है। यही कारण है कि परिवर्तित परिस्थितियों के प्रभाववश वे हर बदलाव का आग्रह पुनर्नवा के माध्यम से करते है। लोकजीवन में रहने

1• पुनर्नवा - पृ• - 175.
2• " - पृ• - 11.

वाले लोग निश्चय रूप से वहाँ के वातावरण से प्रभावित होंगे । वातावरण के उस प्रभाव को विभिन्न प्रतिक्रियाओं के अन्तर्गत लोकजीवन के भीतर युगानुरूप संसोधन और परिवर्धन का आग्रह पुनर्नवा में किया गया है । क्योंकि लोक-जीवन में इस संसोधन और परिवर्धन की बहुत महत्वपूर्ण भूमिका होती है । "अगर निरंतर व्यवस्थाओं का संस्कार और परिमार्जन नहीं होता रहेगा तो एक दिन व्यवस्थाएं तो टूटेंगी ही, अपने साथ धर्म को भी तोड़ देंगी ।" [1]

इस क्रम में यह बात बहुत महत्व रखती है कि वातावरण के सही चित्रण हेतु वहाँ की मान्यताओं, परम्पराओं, रूढ़ियों और रीतिरिवाजों आदि को सही ढंग से प्रस्तुत करने के लिए उपन्यासकार को वहीं की बोली-बानी के विशिष्ट प्रयोगों को अपनाना पड़ता है । उपन्यास की सफलता के लिए लोकोक्तियों एवं मुहावरों का प्रयोग अति आवश्यक होता है । लोकजीवन का कोई पात्र जब परिमार्जित तथा शिष्ट भाषा का प्रयोग करने लगता है तो उसकी अभिव्यक्ति से लौकिक सहजता समाप्त हो जाती है । अत: पुनर्नवा में आचार्य द्विवेदी इस बात से बहुत सतर्क हैं । उसमें लोकजीवन में रहने वाले पात्र द्वारा लोक-प्रचलित लोकोक्तियों का प्रयोग कराया गया है । बोली के स्वाभाविक प्रयोग द्वारा लोकजीवन अत्यन्त प्रभावी रूप से मूर्तिमन्त हो गया है - "यहाँ के लोक बड़े लण्ठ हैं । श्रावस्ती में हारने वाले को कोई मारता नहीं । उनको अवश्य दण्ड मिलना चाहिए । एक नाम माथुर है, एक का दर्दुरक । पूरे पिशाच हैं दोनों । ••• रात भर उसी तरह पड़ा रहा । ऊपर से झमाझम पानी बरसता रहा ।" [2] उस प्रकार लौकिक वातावरण को स्वाभाविकता की भावभूमि पर चित्रित करने के लिए वहाँ के रहने वाले लोगों की बोली-बानी में सामान्यत: प्रयुक्त होने वाले प्रचलित शब्दों का प्रयोग किया गया है ।

1• पुनर्नवा - पृ• - 159.
2• पुनर्नवा - पृ• - 85-86.

भारतीय इतिहास से हमें यह ज्ञात होता है कि भारत में कागज पर लेखन बहुत बाद प्रारम्भ हुआ । कागज के प्रयोग के सम्बन्ध में कोई ठोस प्रमाण हमें प्राप्त नहीं होता है । पुनर्नवा में लिखने के लिए भूर्ज पत्रों को चित्रित किया गया है । मंजुला शलाका द्वारा भूर्ज पत्र पर ही पत्र लिखती है । इससे यह तथ्य स्पष्ट होता है मध्यकाल में लेखन भूर्जपत्रों पर ही होता था । इसके अतिरिक्त पहनावे का भी बहुत महत्वपूर्ण स्थान इसलिए होता है कि वह वातावरण की प्रस्तुति में योग देता है । भारतीय लोकजीवन में पहनने के लिए साड़ी का उल्लेख प्राचीन काल से ही प्राप्त होता है । मंजुला जब देवरात से मिलने जाती है तो "उसके पहिनावे में सिर्फ एक स्वच्छ साड़ी थी, आभूषण के नामपर केवल एक हाथ में एक सोने की चूड़ी थी । और गले में केवल एक सूत्र का हेमहार था ।" [1] मांदी एक हल्की सी सफेद साड़ी पहने होती है । [2] इसी प्रकार पुरूषों के पहिनावे का भी वर्णन है । माढ़व्य शर्मा के दाहिने कंधे पर एक पीला उत्तरीय था । और कमर में पंचकक्ष अधोवस्त्र बँधा था । चन्द्रमौलि कौशेय उत्तरीय और कौशेय अधोवस्त्र पहिने हुए थे । [3] ये सभी पहनावे तत्कालीन लोकजीवन में साधारण लोगों द्वारा पहने जाते थे । राजा या सामंतों के पहनावे अलग थे ।

आचार्य द्विवेदी ने लौकिक वातावरण में प्रचलित रूढ़ियों को तोड़ने का हर संभव प्रयास पुनर्नवा के माध्यम से किया है । पुरूष प्रधान लोकजीवन में भी प्राय: यह देखने को मिलता है कि पुरूषों के समस्त वैराग्य के आयोजन, तपस्या के विशाल मठ, मुक्ति साधना के अतुलनीय आश्रम, नारी की एक बंकिम दृष्टि में ही ढह गए है । यानि उनकी दृष्टि सत्यनाशिनी है । इसी दुराग्रह, दुरभिसन्धि की गलत व्याख्या करके पुरुष स्वयं को श्रेष्ठ समझता है । वास्तव में सामन्तवादी अभिजात्य व्यवस्था में ऐसा होता रहा कि सारा दर्शन, भक्ति,

---

1. पुनर्नवा - पृ. - 19.
2. " - पृ. - 90.
3. " - पृ. - 64-65.

धर्म-परायणता, नैतिक मूल्य नारी को मात्र भोग्या समझकर ही तिरस्कृत किया जाता रहा । वाग्वितण्डा के दुर्वह जाल में फँसी हुई नारी को अपनी अस्मिता की पहचान कराने के लिए पुनर्नवा में लौकिक वातावरण को कलात्मक स्थान के साथ जीवन का बद्धमूल कर्तव्य बना दिया है - "यह जड़ मांस-पिण्ड न नारी है न पुरुष । वह निषेधरूप तत्व ही नारी है । जहाँ कहीं अपने आप को उत्सर्ग करने की अपने आप को खपा देने की भावना प्रधान है, वहीं नारी है । जहाँ कहीं दु:ख-सुख की लाख-लाख धाराओं में अपने-आप को दलित-द्राक्षा के समान निचोड़कर दूसरे को तृप्त करने की भावना प्रबल है, वहीं नारी तत्व है । ••• नारी निषेध रूपा है । वह आनन्द भोग के लिए नहीं आती आनन्द लुटाने के लिए आती है ।" [1]

चूँकि पुनर्नवा में लोकजीवन का स्वाभाविक चित्रण हुआ है । इसलिए इसके वातावरण में जिस संस्कृति का निरूपण हुआ है वह नागर, आभिजात्य, शास्त्रीय अथवा रीतिवादी संस्कृति के स्थान पर लोक संस्कृति है । लोक का वातावरण उस वातावरण में रहने वाले लोगों के रहन-सहन का स्तर, तौर-तरीके धार्मिक-कर्मकाण्ड आदि से संचालित आदि सभी कुछ मिलकर उपन्यास के लौकिक वातावरण को बहुत ही प्रभावपूर्ण ढंग से व्यक्त करते है । बटेश्वर तीर्थ में तत्कालीन लोकजीवन की आस्था व्यक्त की गयी है । तत्कालीन लोकजीवन में पूजनीय व लोकप्रिय देवी देवताओं को उपन्यास की मूल कथा से जोड़कर बहुत ही मार्मिक वातावरण की सृष्टि की गयी है । वे सभी देवता प्रकारान्तर से लोकजीवन में आज भी पूजनीय है । कुछ धार्मिक पर्व तो आज भी लोकजीवन में उत्सव की तरह मनाए जाते है । "कार्तिकी पूर्णिमा को ग्राम तरूणियों ने गोवर्धन धारण की लीला करने का निश्चय किया । वह लीला बड़ी ही मनोहर थी । गोवर्धनधारी कृष्ण एक हाथ में वंशी लिए हुए और दूसरे हाथ की ऊँगली ऊपर किये हुए खड़े थे । तरूणियां उनके चारों ओर उल्लासित होकर नाच नही थीं ।" [2] इस तरह

---

1. पुनर्नवा - पृ. -
2. पुनर्नवा - पृ. - 108.

कई स्थलों पर विभिन्न देवी देवताओं की उपासना कराई गई है । कई बार धार्मिक उत्सवों का आयोजन कराया गया है । यह सारी क्रियाएं लौकिक वातावरण के निर्माण के साथ कथा को लौकिक पुट देने के लिए की गयी है ।

पुनर्नवा में स्थानीय रंग लोकजीवन की प्रवृति तथा विशिष्ठता को तो उजागर करता ही है साथ ही साथ वातावरण उस रंग और रेखा के लिए प्रेम का कार्य करता है । वातावरण का सीधा सम्बन्ध पात्रों से होता है । स्थानीय रंग तो लौकिकता के वाह्य स्वरूप को स्वाभाविक तथा सजीव बनाने में योगदान करता ही है उसके अन्त:पक्ष को स्वाभाविक बनाने का सबल माध्यम भी बन जाता है । लोकजीवन को लेकर लिखे गये उपन्यास में लेखक के समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोण का विशेष महत्व होता है । वह अपने उपन्यास में लोक-जीवन के स्वाभाविक वातावरण की स्वाभाविक झाँकी पेश करता है । उस लोक के वातावरण तथा उसमें रहने वाले पात्रों के चरित्रों को प्रस्तुत करने के लिए लेखक के दृष्टिकोण का समाजशास्त्रीय होना अति आवश्यक है । कोई भी व्यक्ति अच्छा है या बुरा है तो वह जन्मजात ऐसा नहीं होता । उसकी अच्छाई या बुराई में समाज, वातावरण और परिस्थितियों का बहुत बड़ा हाथ होता है । उसकी अच्छाई या बुराई के विश्लेषण क्रम में आचार्य द्विवेदी उससे सम्बन्धित विभिन्न परिस्थितियों का विवेचन करना नहीं भूलते - "कहते है, चन्द्रा अब समझ गया हूँ । दोष तेरा नहीं, सामाजिक व्यवस्था का है ।" [1]

यथार्थ का अर्थबोध वहाँ के वातावरण के विभिन्न धरातलों एवं संदर्भों से जुड़ा हुआ होता है । पुनर्नवा का वातावरण स्वयं ही नायक के रूप में चित्रित है । अत: उसकी मौलिकता-प्रमुखता एवं विशेषताएं भी है । इन सभी का तथ्यात्मक विवेचन और निरूपण ही पुनर्नवा के वातावरण के यथार्थ को प्रभावी ढंग से विश्लेषित करने में समर्थ है । पुनर्नवा में आचार्य द्विवेदी की दृष्टि

---

1. पुनर्नवा - पृ. - 172.

मूलत: तथ्यपरक है । फलत: वह विशिष्ट वातावरण के बाह्य तथा अन्त: दोनों ही पक्षों के यथार्थ-स्वरूप को अपने उपन्यास में चित्रित करते हैं ।वह प्रकृति की पार्श्वभूमि में उस वातावरण में जन्म लेकर पलने-बढ़ने वालों के लोकजीवन की वास्तविकता को प्रस्तुत करने के लिए यथार्थ वातावरण की सृष्टि करते हैं । वातावरण के ही माध्यम से प्रकृति की लौकिक पार्श्वभूमि में रहने वाले लोगों के जीवन की वास्तविकता को प्रस्तुत करने के लिए लौकिक वातावरण की सृष्टि अति आवश्यक है । क्योंकि उसी से प्रकृति के अत्यन्त निकट रहने वाले लोकजीवन की सजीव झांकी को उपन्यास के मंच पर प्रस्तुत किया जा सकता है । लोकजीवन की सत्यता को चित्रित करने के लिए जहाँ उस परिवेश को पुनर्नवा में निरूपित किया गया है वहीं उस जीवन से जुड़े हुए लोकजीवन के तत्कालीन वातावरण की यथार्थता को भी वर्णित किया गया है । पुनर्नवा में प्रयुक्त लौकिक वातावरण के यथार्थ घटना-चक्रों द्वारा हम आज भी अतीत के लोकजीवन को स्पष्ट रूप से देख सकते हैं ।

आचार्य द्विवेदी अपने लक्ष्य के अनुसार लोकजीवन की सजीवता को विभिन्न प्रासंगिक परिवेशों और परिस्थितियों के अनुसार चित्रित करते हैं । वर्तमान परिवेश के अनुसार जीवित संस्कारों को वर्णित करना उनका मूल उद्देश्य रहा है । पुनर्नवा में बदलते हुए सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक परिवेश के प्रति आग्रह आचार्य जी असाधारण कौसल के साथ करते हैं । उनका यह कहना कि "जो कुछ पुराना है, जीर्ण है, सड़ा-गला है, वह ध्वस्त होता जा रहा है । नवीन के निर्माण में प्रत्येक पग पर मृत्यु का तांडव दिखाई दे रहा है ।"[1] लोकजीवन की गतिशीलता, नवसंस्कृति एवं नव परिवेश के लिए शाश्वत संदेश है ।

विधि-निषेधों की स्थूलताओं एवं अन्तर्यामी देवता की आवाज के बीच में टकराव लौकिक वातावरण में ही देखने को मिलता है । अपने आप को

---

1. पुनर्नवा - पृ. 126-127.

दलित द्राक्षा की भांति निचोड़ कर दे देने की प्रेरणा इसी क्षेत्र में विकसित होती है । यह बात अलग है कि समाज ने अपनी व्यवस्था के लिए मर्यादाओं के बन्धन भी इसी क्षेत्र में बनाए है । एक ओर प्रेम की लौकिक पीर है तो दूसरी ओर सामाजिक बन्धन है । अनन्तकाल से लौकिक परिवेश इस द्वन्द्व के बीच में सामंजस्य बैठाने का प्रयास करता रहा है । चाहे वह सीरी-फरहाद के लिए हो, लैला-मजनूँ के लिए हो, सोहनी-महिवाल के लिए हो या फिर लोरिक-चन्दा के लिए । विश्व साहित्य की समस्त लोकगाथाएं इसी द्वन्द्व का गीत गाती है । "मध्यकालीन साहित्य और दर्शन में मधुराभक्ति इसी प्रकार का प्रयास है । किन्तु मधुरा भक्ति की इस साधना में कृष्ण और गोपियों का प्रेम चिन्मय है, वह मात्र आराधना और उपासना का विषय है, लौकिक आचरण का नहीं दूसरी ओर आधुनिक यथार्थवादी दृष्टिकोण है जिसमें संकल्पहीन मानव अपनी वासनाओं के आवेग में अपदार्थ की भांति बहता चला जाता है,पुनर्नवा इन दोनों अतियों के बीच कहीं निदान खोजने का प्रयास करता है ।" ।

इस अभिव्यक्ति के लिए आचार्य द्विवेदी के जिस वातावरण का विधान किया है, वह अद्‌भुत है । उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह कि वह अपने आप में बहुत ही पुष्ट और सबल है । उस वातावरण की सृष्टि कुछ इस प्रकार की गई है कि पाठक का सम्बन्ध लोकजीवन से हो या न हो, उसके कथा रस में कोई बाधा उत्पन्न नहीं होती । सब कुछ आचार्य की लेखनी में ढलकर एक नितांत नूतन रूप धारण करके एक नितान्त नूतन उद्‌देश्य की सिद्धि करते है । इस प्रकार पुनर्नवा का वातावरण और परिवेश लोक की रंगसज्जा का पूरा-पूरा प्रतिनिधित्व करता है । जिससे लोकजीवन की सांस्कृतिक सत्ता, परम्परागत जीवन विधि, भूत और वर्तमान का भव्य आयोजन समाहित है । लोकरंग और लौकिक संस्पर्श द्वारा लोकजीवन की विशेष अनुभूति को सृष्टि कर लौकिक वातावरण के

---

1. ऋषिकुमार चतुर्वेदी - आलोचना, पृ॰- 90, जनवरी-मार्च, 1974.

यथार्थ को मुखरित करने की कलात्मक चेष्टा बड़े ही संतुलित रूप में पुनर्नवा में पायी जाती है ।

(ख) देशकाल

देशकाल चित्रण उपन्यास का बहुत महत्वपूर्ण तत्व है । उसके लिए यह आवश्यक है कि लेखक जिस काल-खण्ड को अपने उपन्यास के लिए चुने उस काल की राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक स्थिति के ऐसे सजीव चित्र उपस्थित करे कि पाठक पूर्णतया उस देशकाल से साक्षात्कार कर ले, मानसिक रूप से उस देशकाल में विचरण करने लगे और कुछ समय के लिए उसमें डूब जाय । पुनर्नवा इस दृष्टि से एक सफल उपन्यास है । उसके पढ़ते समय हमारे सामने समुद्रगुप्त कालीन उत्तर भारत का लोकजीवन साकार हो उठता है । क्योंकि उपन्यास में तत्कालीन लोकजीवन, संस्कृति, कला, राजनीतिक एवं धार्मिक स्थिति सफलतापूर्ण ढंग से अंकित हुई है ।

पुनर्नवा के देशकाल के अन्तरगत चौथी शताब्दी को मुख्य रूप से लिया गया है । इसका देशकाल लोकमुक्ति का वाहक है न कि जड़ता का संवाहक । "देश" के अन्तर्गत इस उपन्यास के भूचित्र उत्तरी भारतीय लौकिक प्रकृति और सुन्दर धरती, बलिष्ठ-पुरूषों और सुन्दर नारियों का फलक है । भूचित्रावली में कहीं तो किला है कहीं मन्दिर, कहीं पोखर है तो कहीं नदी । रोमांस से आगे रोमांटिक उद्देश्यों के वास्ते लेखक ने इन्हें रोमांटिक प्रतीक भी बना दिया है : प्रणय अथवा बलिदान के पवित्र तथा सामंतवृत के बाहरले स्थलों के रूप में । इसके लिए लेखक ने सर्वाधिक एवं सर्वप्राथमिक आधार लोकजीवन तथा लोक संस्कृति को बनाया है क्योंकि इनकी अपेक्षाकृत अपरिवर्तनशील प्रवहमानता देशकाल को प्रामाणिक बनाती है । ये दोनों घटक देश का रंग भरने में, चरित्र उभारने में, तथा वातावरण में जीवनी शक्ति का संचार करने में मददगार है । पुनर्नवा में होली वर्णन, बसंतपंचमी, गोवर्धन पूजा आदि के दृष्टान्त है । लेखन ने दूसरा

समानान्तर आधार राजदरबारी कला विनोदों एवं अभिजात्य संस्कृति का लिया है । राजदरबार में कलाकारों का जमघट, राजा-रानियों की रूचियाँ गोष्ठियां और प्रतियोगिताएं आदि कला की अपनी रंगीन दुनियाँ का विधान करते है ।

देश के पूरक अक्ष "काल" पर भी लौकिक विलक्षणता गोचरीभूत होती है ।इसके हाशिए पर कालानुक्रमी (गुप्तकालीन) राजनैतिक,सामाजिक, तथा सांस्कृतिक वास्तविकताएं है । सामन्तशाही-जागीरदारी के प्रतिफलन बिखरे हुए अकेन्द्रित रजवाड़े है । वर्णाश्रम केन्द्रित अंधविश्वासों और रूढ़ियों का गोरख-धंधा है तथा गुप्तकालीन जनता के सामंती आदर्श है ।

पुनर्नवा इतिहास का पुनर्कथन नहीं है । उसमें इतिहास के रिक्त स्थानों को भरने का प्रयास अवश्य किया गया है । लेकिन यह उसका उद्देश्य नहीं है । उसमें युद्धों, षणयन्त्रों का वर्णन उपन्यास को रोचक बनाने के लिए किया गया है । पर वह उसका प्रतिपाद्य नहीं है । वस्तुत: पुनर्नवा में छिपे हुए युग सत्य को पहचानने उसके अन्तर्विरोध को समझने तथा काल-खण्ड विशेष के जीवन को विश्लेषित करने का प्रयास है । उस युग-विशेष की सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और राजनीतिक स्थिति का चित्रण करते हुए अव्यवस्था और अनाचार से पीड़ित उस काल की जनता के भीतर ही भीतर पनपते आक्रोश और विद्रोह की झलक प्रस्तुत की है । "गुप्त-काल के प्रारंभिक चरण को पृष्टभूमि बनाकर लोकगाथाओं, जनश्रुतियों तथा इतिहास-ग्रन्थों से तथ्य ग्रहण कर एक ज्वलन्त युग सत्य को सामने रखा है ।" [1]

"पुनर्नवा की कथावस्तु का देशकाल उसके मुख्यार्थ के सर्वथा अनुरूप है । चौथी शताब्दी के भारत में यहाँ के पुराने निवासी आर्यों के साथ घुमक्कड़ आभीर जाति के संसर्ग के कारण जीवन-मूल्यों के क्षेत्र में एक संक्रान्ति युग उपस्थित हो गया था । आर्यों में यौनाकर्षण के क्षेत्र में सामाजिक अनुशासन पर

---

1. डॉ0 शान्तिस्वरूप गुप्त.- पुनर्नवा समीक्षा, पृ. - 154.

विशेष बल था । और आभीरों में सामाजिक व्यवस्था अधिक जटिल न होने के कारण आनन्दिनी वृत्ति के खुल खेलने के लिए पर्याप्त अवकाश था । दोनों जातियों के सम्पर्क से यहाँ के लोक मानस में आनन्दिनी वृत्ति को दबाने वाले शास्त्रों और लोक मर्यादाओं के प्रति विद्रोह का भाव जागने लगा था ।" [1]

इस देखकाल की पृष्टभूमि में पुनर्नवा में हमें कई प्रेमी युग्म दिखाई देते है । उसमें एक युग्म देवरात और मंजुला का है । लेकिन उनका प्रेम अपनी एक अलग विशेषता रखता है । वह प्रेम मंजुला द्वारा गाए गये दोहे से स्पष्ट होता है - "दुल्लह जणं अणुराऊ गरू लज्ज परब्बसु प्राणु ।" तात्पर्य यह कि "बड़ा अजीबोगरीब प्रेम हुआ है । प्रेमी जन लज्जा में पड़े हुए है । खुलकर प्रेम की अभिव्यक्ति नहीं कर सकते । इन दोनों के प्रेम में इस लिए भी कठिनाई है कि देवरात एक साधु-पुरूष हैं । हलद्वीप में उनका बहुत सम्मान है, और मंजुला ठहरी गणिका । इसलिए लोक इस प्रेम को मान्यता कैसे दे सकता है । इसके माध्यम से पुनर्नवा में चौथी शताब्दी के लोकमन एवं सामाजिक मान्यताओं को अभिव्यक्ति बड़े ही सुन्दर ढंग से मिली है ।

उपन्यास की कथाभूमि है हलद्वीप से लेकर श्रावस्ती, मथुरा, उज्जयिनी और विन्ध्याटवी के आस-पास का प्रदेश । चरणाद्रि दुर्ग में भारत को एक अखण्ड शासनसूत्र में बाँधने और फिर प्रयाग में विजय स्तम्भ स्थापित करने के समुद्रगुप्त के संकल्प, मथुरा और उज्जयिनी पर विजय आदि के घटनाक्रम पर आधारित यह उपन्यास चौथी शताब्दी के लोकजीवन को विश्वसनीय और आकर्षक रूप में प्रस्तुत करता है । उपन्यास में प्रयुक्त हलद्वीप आचार्य द्विवेदी की जन्मभूमि हल्दी है जो पूर्वी उत्तर प्रदेश के बलिया जिले में स्थित है । दीपखण्ड दुबहड़ है । च्यवन भूमि जंवई है [2] गौरा भी इसी जिले में है जहाँ से लोरिक को जोड़ा गया है । ओझाउल धर्मशाला द्विवेदी का गांव ओझवलिया

---

1. डॉ0 नामवर सिंह (सं) - आलोचना, जनवरी-मार्च, 1974, पृ. - 81.
2. आधुनिक हिन्दी उपन्यास - पृ.-360. (सं0 भीष्म साहनी आदि).

है । आचार्य द्विवेदी के शब्दों में "यह मेरी जन्मभूमि है । इस गांव के एक हिस्से को "आरत दूबे का छपरा" कहते है । यही वस्तुत: मेरी जन्मभूमि है, परन्तु वह हमेशा से इस गांव का हिस्सा हो रहा है । ••• बसने के लिए थाड़ी सी भूमि बलिया गांव के मालिक ओझा लोगों ने उन्हें माफी में दे दी थी ।" 1

हल्दीप को पुनर्नवा में बोसागर और सरयू नदी की बाढ़ से घिरते हुए दिखाया गया है । "बरसात में जब बोधसागर में पानी भर जाता था और महासरयू में भी उफान आता था तो यह टीला चारों ओर से पानी से घिर जाता था ।" 2 इसका प्रमाण द्विवेदी जी के ही इस कथन से प्राप्त होता है कि "वस्तुत: छपरा और बलिया नाम के नगरों के मध्यवर्ती भू-भाग को गंगा और सरयू जैसी दो महा नदियों का कोप बराबर सहते रहना पड़ा है । अधिकांश गांव सचमुच ही छप्परों के बने है, क्योंकि हर साल गंगा की बाढ़ में उनके बह जाने की आशंका बनी रहती है ।" 3

मथुरा में कृष्ण का दरबार है । अहीर लोकमन में इसीलिए मथुरा का बहुत सम्मान है । जहाँ तक गोपों का प्रश्न है तो इनका अस्तित्व वैदिक युग से ही विद्यमान है । इन गोपों, आभीरों में खून का रिश्ता हो या न हो संस्कृतिगत रिश्ता अवश्य ही है । गोपों के बालगोपाल और राधा धर्म-साधना के केन्द्र थे । यही आभीरों के भी । वर्तमान अहीर ही जो आभीर का बिगड़ा हुआ रूप है गोप ही है जो कालप्रवाह में मिश्रित होकर एक हो गये । अहीर लोकमन आज भी मथुरा से अपना परम्परागत सम्बन्ध मानता है । इस जाति में आज भी गोवर्धन-पूजा होती है ।

1• हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली, पृ• - 96.
2• पुनर्नवा - पृ• - 11.
3• हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली, पृ• - 96.

भारतीय इतिहास में गुप्त काल को "स्वर्ण-काल" की संज्ञा से अभिहित किया जाता है । क्योंकि यह लोक संस्कृति के अत्यन्त समृद्धि का काल था । हलद्वीप से उज्जयिनी तक कला के ऐसे अनेक केन्द्र थे जहाँ लोक-कलाओं की पूरी साधना होती थी और उन्हें विकसित होने के पूर्ण अवसर उपलब्ध होते थे । हलद्वीप के सरस्वती विहार के सदृश अनेक स्थानों पर ऐसी संस्थाएं एवं केन्द्र थे जहाँ बसंत आरंभ होते ही काव्य, नृत्य एवं संगीत का आयोजन होता था । लोकजीवन में आभीर महिलाएं अपने उद्दाम मनोहर नृत्य के लिए एवं कोमल कंठ के लिए विख्यात थी । पुनर्नवा में मथुरा में आभीर युवतियों का जो नृत्य एवं गीत दिखाया गया है वह हम आज भी मथुरा में लोक पर्वों के अवसर पर देख सकते है ।

पुनर्नवा उस काल के वातावरण को बड़ी ही कुशलता से प्रस्तुत करता है जब भारतीय गणराज्यों के पतन का समय था लोक में गणतन्त्र की भावना नष्ट हो गयी थी और राजतन्त्र के अवगुण उसमें आ गये थे । प्रत्येक लिच्छवि कुमार अपने को राजकुमार ही समझने लगा था । नारियों का बलात् अपहरण कर लेने जैसे दुर्गुण के वे शिकार हो गये थे । आर्यक और चन्द्रा को पच्चास लिच्छवि राजकुमारों ने पकड़ लिया । उस समय राजा भी लम्पट और दुर्दन्त हो गए थे । उनकी उद्दंडता से जनता त्रस्त थी और असंतोष बढ़ गया था । द्विवेदी जी ने हलद्वीप की तत्कालीन परिस्थितियों का चित्रण करते हुए लिखा है "वह लम्पट और दुर्दन्त राजा सिद्ध हुआ । उसके औद्धत्य से हलद्वीप की प्रजा त्रस्त हो उठी बहू बेटियों का शील भी दुर्वन्त राजा की जुगुप्ति लालसा की बलि बेदी पर घसीटा जाने लगा ।" [1] इस प्रकार पुनर्नवा के देशकाल एवं वातावरण को समझने के लिए वर्तमान में उसके प्रभाव को प्रतिबिम्बित करने के लिए इतिहास, राजनीति, परम्परा, आदि का भी समावेश किया गया है । यही कारण है कि कई लघु

पुनर्नवा - पृ॰ - 37-38.

या सहकारी पात्रों, घटनाओं की इसमें बहुतायत हो जाती है । क्योंकि जब प्रमाणित तथ्य प्रमुख पात्रों के कार्यभार को अनुशासन में बाँधे रहते है तथा समाज की किसी मान्यता, किसी दृष्टिकोण या समस्या आदि का आयातीकरण करते है तब ही देशकाल की सम्मूर्ति उभरकर आती है ।

उपन्यास की विविध घटनाओं, उसके विविध पात्रों तथा उनके क्रिया कलापों और विभिन्न परिस्थितियों में उनकी प्रतिक्रियाओं को पाठक तब सम्भावित या किसी सीमा तक यथार्थ समझता है, जब वह यह देखता है कि उसकी पृष्टभूमि किस सीमा तक देशकाल का सही वातावरण और लेखा-जोखा प्रस्तुत करती है । यह तथ्य उपन्यास के कथानक तथा पात्रों दोनों के लिए समान रूप से सीमाएं निर्धारित करता है । जब किसी उपन्यास में देशकाल का बंधन नहीं होता है तो कृति में किसी भी युग की सामाजिक परिस्थितियों का चित्रण मिलना संभव नहीं होता है ।

पुनर्नवा के देशकाल में लोक-रंग आ जाने से उसमें प्रभावात्मकता आ गई है । कृत्रिमता नष्ट हो गई है स्वाभाविकता बढ़ गई है । कुछ आलोचक इस उपन्यासों के देशकाल में लोकरंगों का विरोध करते है । उनका यह विचार होता है कि ऐसा होने से उपन्यास बोझिल हो जाता है । उसमें प्रस्तुत लौकिक विशेषताएं स्वत: उसकी सीमाएं निर्धारित कर देती है । और वह उपन्यास किसी विशेष परिवेश के लोगों के लिए हो जाता है । किन्तु पुनर्नवा में ऐसी बात नहीं है । पुनर्नवा का देशकाल लौकिक होते हुए भी सर्वकालिक है, सार्वभौमिक है । पुनर्नवा की सनातन समस्याएं न केवल उस चौथी पांचवी शती के उत्तरी भारतीय लोकजीवन में विद्यमान थीं बल्कि आज जब देश इक्कीसवीं शताब्दी में प्रवेश करने जा रहा है तब भी बनी हुई है । "परम्परावादी और आचारवादी लोग इस बात से चिन्तित है कि अविवाहित कुमारियों में प्रेम की प्रतिष्ठा बढ़ रही है तथा पारिवारिक सामाजिक अवरोध नष्ट हो रहे है । यह भी चर्चा होती है

कि इस देश ने पति-पत्नी के प्रेम को उत्कृष्ट माना, पर उस समय ऐसी गाथाएं सुनने में आती है जिनमें प्रेमी-प्रेमिकाएं गाढ़े प्रेम में फँसती है तथा सामाजिक बाधाओं का अतिक्रमण करती है।"[1] वास्तव में आचार्य द्विवेदी ने इस प्रकार के संदर्भ को पुनर्नवा में नैतिकता के प्रति विद्रोह की आधुनिक सार्वभौमिक समस्या के परिप्रेक्ष्य में ही वर्णन किया है।

मथुरा हो या हलद्वीप प्रत्येक जगह गोपाल आर्यक को समाज के नैतिक संकट को झेलना पड़ता है। सामाजिक अंधेर में सताए जाने के आतंक वश भीतर तथा बाहर के डर से वह भागता फिरता है। सब जगह अंधेर ही अंधेर है। स्थिरता कहीं नहीं है। वस्तुत: पुनर्नवा का देशकाल तथा उससे सम्बन्धित वातावरण भारतीय लोकजीवन की शक्तियों तथा दशाओं को बड़े ठीक ढंग से विश्लेषित करते हैं। क्योंकि इसी के अन्तर्गत आर्यक और चन्दा इसी परिवेश से ही क्रान्तिकारी परिवर्तन का मूलाधार बनकर रोशन हो उठते हैं। इस तरह इस उपन्यास में लोकसंस्कृति की रचना में लौकिक वातावरण की प्रमुखता ही नहीं है बल्कि गुप्तकालीन यातना की ऐतिहासिक प्रक्रिया भी उस काल के देशकाल में ही सम्पन्न होती है। जो हलद्वीप से मथुरा और उज्जयिनी तक फैली हुई है।

पुनर्नवा के काल गुप्तकाल में विभिन्न राज्यों के विभिन्न धर्म थे। प्राय: ऐसा होता था कि राजा जिस धर्म का अनुयायी होता था प्रजा भी उसी धर्म का पालन करती थी। हलद्वीप के नागवंशीय शासक भारशिव थे। जो शिव के उपासक थे। क्षिप्तेश्वर भगवान की उपासना वहाँ बड़े धूम-धाम से होती थी। किसी प्रकोप के समय क्षिप्तेश्वर की पूजा कराई जाती थी। लेकिन जब आभीरों का शासन हुआ तो उन्होंने कृष्ण की आराधना शुरु करवा दी। आर्यक के चले जाने के बाद मृणालमंजरी घंटों तक गोवर्धनधारी बालकृष्ण की मूर्ति की ओर देखती और कातर भाव से प्रार्थना करती, "प्रभों आर्यक को किसी प्रकार मिला दो।" हल्दी क्षेत्र के अहीरों में आज भी कृष्णपूजा बड़ी

---

1. डॉ० विवेकी राय - हिन्दी उपन्यास : उत्तरशती की उपलब्धियाँ, पृ०-12

ही श्रद्धा से की जाती है । उज्जयिनी के जिन बौद्ध बिहारों का जो वर्णन प्राप्त होता है वह आज भी विद्यमान है ।

विन्ध्याटवी के सिद्ध बाबा ने सिंह वाहिनी-महिषमर्दिनी की उपासना चलाई थी । यहाँ डाकिनियों भूत-प्रेतों में भी लोगों का विश्वास था । कुछ लोगों का विश्वास था कि स्वप्न में देवी का आदेश पाकर ही विन्ध्याटवी के सिद्ध पुरूष ने महिषासुरमर्दिनी की उपासना चलाई तो मथुरा के ब्राह्मण को अपने स्वप्न पर विश्वास था जिसमें लहुरावीर ने बताया था कि वह अपना तेज देकर पूर्व से एक महावीर को भेज रहे है । जो पुन: लहुरावीर के मन्दिर की शोभा बढ़ाएगा । विंध्याचल के पहाड़ी क्षेत्रों में आज भी सिंहवाहिनी महिषमर्दिनी की पूजा बड़े ही धूमधाम से होती है । नाथों-सिद्धों की परम्परा के लोग भी आज वहाँ बहुतायत मात्रा में विद्यमान है जो भूतों-प्रेतों को अपने वश में करने की रोमांचवादी बात करते है ।

पुनर्नवा में उपन्यास को अधिक कारगर, मुखर और प्रभावशाली बनाने के लिए लोक-वातावरण की सूक्ष्म चित्रकारी की गई है । यह चित्रण इसलिए भी तर्कसंगत तथा उपयोगी हो गया है कि देशकाल लोकरंगों से युक्त है । तथा लौकिक देशकाल के विविध आयामों को समेटे हुए है । लोकरंग से उसकी लौकिकता और विशेषता सहज ही हो जाती है । पुनर्नवा का देशकाल लोक भाव प्रकट करने वाले लौकिक स्थितियों एवं उपादानों को द्योतित करता है । जिसमें परिवेशजन्य यथार्थ और उसकी अवस्थिति की सम्पूर्ण बनावट आ जाती है । यह शब्द मूलत: देश की भौगोलिकता, संरचना, प्राकृतिक परिवेश आदि को इंगित करता है । पुनर्नवा में इसके साथ ही साथ लौकिक-गति-विधियों, रहन-सहन, लोक सांस्कृतिक धारा, परम्परागत जीवन-विधान, प्रचलित- उक्तियों लोक-कलाभिरूचियों आदि के तत्व भी समाविष्ट है, जो एक लौकिक देश-काल का स्वरूप प्रस्तुत करते है ।

जाहिर है कि पुनर्नवा में चित्रित देशकाल की नारियां रू सामाजिक परम्पराओं, मान्यताओं की शिकार होती है। मुख्यत: वे रूढ़ सामाजिक परम्पराओं, मान्यताओं की शिकार होती है। लेकिन वे इसमें पूर्णतया समाप्त नहीं हो जातीं। बल्कि समाज के सामने प्रश्न-चिह्न के रूप में खड़ी हो जाती है और दूसरों को प्रेरित भी करती है। पुनर्नवा की चन्द्रा हिन्दी उपन्यासों और नाटकों की नारियों की तरह नहीं है जो व्यभिचारी पति के चरणों को आंसुओं से तर कर देती है, लेकिन सामाजिक अन्याय के प्रतिकार की बात सोचती ही नहीं है। वह शरत् बाबू की देवियों से भी भिन्न है जो अधिकतर अपने दु:ख में घुट-घुटकर मरना पसन्द करती है लेकिन समाज का विरोध नहीं करतीं। पुनर्नवा एक नया आयाम चन्द्रा को दिया गया है जो दु:ख तो सहती है लेकिन उसका कड़ा विरोध भी करती है। ये सारी बातें उसी देशकाल में ही संभव थीं। इसलिए पुनर्नवा के देशकाल को अनिवार्य रूप से लौकिक संस्पर्श देना पड़ा है।

भारत अनेक नदियों का देश रहा है। इसलिए भारतीय संस्कृति मूलतया नयी संस्कृति ही है, क्योंकि भारत की अधिकांश संस्कृतियां नदियों के किनारे ही उत्पन्न हुईं, विकसित हुईं। पुनर्नवा में वर्णित सभी नगर-मथुरा, हलद्वीप, अथवा उज्जयिनी नदियों के किनारे ही बसे हुए है। लोकमन में इन नदियों के प्रति बहुत ही आदर और श्रद्धा का भाव होता है जो हमें पुनर्नवा में भी दिखाई देता है। आज भी भारतीय लोकजीवन में महा सरयू आदि नदियों का बहुत सम्मान है। चौथी शताब्दी के लोकजीवन का सम्बन्ध इन नदियों और सागरों से था ऐसा पुनर्नवा के अध्ययन से ज्ञात होता है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी लोक की प्रतिबद्धता मानने वाले उपन्यासकार थे। यही कारण है कि ऐसे देशकाल को पुनर्नवा के लिए चुना जिससे मध्यकालीन भारत के लोकजीवन का दर्शन किया जा सके। अपने ही अनुभव एवं सूक्ष्म निरीक्षण के बल पर उन्होंने तत्कालीन देश के वातावरण का जो निर्माण

किया है वह कालगत सच्चाई का प्रमाण बनकर प्रस्तुत हुआ है । इसीलिए पुनर्नवा का देशकाल जैसी लौकिकता से पूर्ण है वैसा हिन्दी उपन्यास साहित्य में अपवाद के रूप में ही मिलेगा । उपन्यास के सारे विषय चाहे वेशभूषा, भाषा, रीति रिवाज, शिक्षा-संस्कृति - जो कुछ हो काल-विशेष का जीवन दर्पण बनकर सामने आते है । "उसके शरीर पर यज्ञोपवीत इस तरह दिखाई दे रहा था जैसे किसी बबूल के पेड़पर मालती की माला आड़ी करके डाल दी गयी हो । उसके दाहिने कन्धे पर एक पीला उत्तरीय था और कमर में पंचकक्ष अधोवस्त्र बँधा हुआ था । ••• लेकिन गांठों के बंधन की उपेक्षा करके एक लाल रंग का कनटोप दूर से ही दिखाई दे जाता था । उसके हाथ में बांस की एक लाठी थी जो उबड़-खाबड़ और टेढ़ी थी ।"[1] इन वाक्यों से पाठक अपने आप उस काल के लोकजीवन का अनुभव करता है ।

तत्कालीन यथार्थ को प्रस्तुत करते हुए तत्कालीन शिक्षा व्यवस्था की भी चर्चा प्रसंगवश की गयी है । उस समय पाठशालाओं और बौद्ध विहारों में शिक्षा दी जाती थी । श्यामरूप को भी क्षिप्तेश्वर धर्मशाला में शास्त्र अध्ययन के लिए भेजा जाता है । ब्राहमण धर्म के अनुसार ब्राहमण पुत्र होने के नाते उसे शास्त्र-अध्ययन ही कराया जाता है । यह बात अलग है कि श्यामरूप वहाँ से भागकर नटों की मंडली में शामिल हो जाता है और महामल्ल शार्विलक बनता है । विक्षिप्त वृद्ध ब्राहमण ने अपने पुत्र को शास्त्रों में पारंगत कर शास्त्र चर्चा के लिए भेजते है । इससे यह स्पष्ट होता है कि उस काल में शास्त्रार्थ की भी परम्परा थी । उच्च कुल की स्त्रियां सामान्य पढ़ना-लिखना और संगीत, नृत्य, चित्रकला आदि का अध्ययन करती थीं । देवरात मृणाल मंजरी को समझाते हुए कहते है - "बेटा यह लड़ना और व्यायाम करना पुरूषों का काम है । मै तुझे इसके बदले में चित्र विद्या सिखाऊँगा । और नृत्यकला की शिक्षा दूँगा ।"[2]

1• पुनर्नवा - पृ• - 87.
2• " - पृ• - 148.

देवरात के ये वाक्य इस बात को इंगित करते है कि स्त्रियों को नृत्य और संगीत की शिक्षा दी जाती थी ? लड़कियों का पाठशाला में अध्ययन करने जाना कम ही होता था ।

उपन्यास में वर्ण व्यवस्था का स्वरूप भी उभरकर हमारे सामने आता है । किन्तु वैदिक काल के रूढ़ रूप में नहीं । ब्राहमण चारूदत्त वेश्या-वृत्ति के कारण सेठ कहे जाते है । आर्यक अहीर होकर भी क्षत्रिय का सम्मान पाता है । महाबलाधिकृत के पद पर भी असीन होता है । अपने आचरणों के कारण भी उस काल में आदमी की पहचान होती है । उपन्यास में हम देखते है कि आचरण और योग्यता के बल पर अनेक सामान्य लोग उच्च पदपर आसीन होते है । मृणाल मंजरी गणिका-पुत्री है लेकिन देवरात के संरक्षण में पली होने के नाते उच्च संस्कार प्राप्त कर कुलवधू का स्थान प्राप्त करती है । वसंत सेना व मांदी अपने शील सौजन्य के कारण पाठकीय संवेदना की पात्र बनती है ।

भिल्ल जाति के बालकों को गाय चराते दिखाया गया है । वे लड़के माढ़व्य शर्मा और चन्द्रमौलि की सेवा सहर्ष करते है । पत्ते के दोनों में पानी पिलाते है । यानि जाति के अनुसार लोगों के कार्य भी बँटे हुए थे । जंभल चौधरी के प्रसंग में दास प्रथा का संकेत किया गया है । इतिहासकार भी इस बात को स्वीकार करते है कि उस काल में दास प्रथा-प्रचलित थी । दासों का क्रय-विक्रय भी किया जाता था ।[1] उपन्यासकार इसे सामाजिक व्यवस्था की देन या इस काल में प्रचलित सामन्तवादी समाज व्यवस्था की देन मानता है ।

गायों द्वारा महाकाल के प्रतीक चिह्न पर दूध की बौछार छोड़ना तत्कालीन लोकजीवन के विश्वास को व्यक्त करता है । ग्रामीण लोग वास्तविकता

---

1. परमेश्वरी लाल गुप्त ने अपनी पुस्तक 'गुप्त साम्राज्य' एवं रोमिला थापर ने 'प्राचीन भारत का इतिहास' में इस बात का उल्लेख किया है ।

से परे किंवदन्तियों में अधिक विश्वास करते है । लोकगीतों में लहुराबीर का अवतार कहा गया है । मध्यदेश के विषय में लोगों में तमाम तरह की किंवदन्तियाँ प्रचलित है । माढ़व्य शर्मा अपने घर के पास झाड़ी में चुड़ैल को देखते है । चण्डसेन के जीर्णोधान को भुतहा कहा जाता है । ये सभी बातें जो लोकजीवन में विद्यमान थीं, आज भी देखी जाती है । लोग बातों की असलियत और गहराई में जाये बिना ही अपनी सनी-सुनाई बातों को ही अधिक महत्व देते है । आर्यक के भटकने का मृणाल मंजरी को स्वप्न में आभास होता है । वास्तव में आर्यक भटक रहा होता है । भारतीय जीवन में ऐसी मान्यता है कि जब कोई प्रिय किसी को याद करता है तो याद किये जाने वाले की हिचकियां आने लगती है । कुछ इसी तरह की बात मृणाल के स्वप्न के साथ भी जुड़ी हुई है क्योंकि आर्यक मृणाल का अत्यन्त अभिन्न है अत: उसके सुखों-दु:खों की अनुभूति उसे हो जाती है ।

पुनर्नवा के लोकजीवन में ग्रामीण भाषा की प्रतीति कराकर देशकाल के लौकिक वातावरण की प्रतीति कराई गई है । रेभिल और भीमा जैसे ग्रामीण पात्र प्राय: ग्रामीण भाषा का ही प्रयोग करते है । वे संस्कृत के तत्सम शब्दों का उच्चारण ठीक ढंग से नहीं कर पाते इसीलिए आर्यक को गोवाल आरिक या ल्वारिक कहते है । वे ग्रामीण दोहों द्वारा भी देशकाल के लौकिक परिप्रेक्ष्य का आभास देते है । [1] संबोधनों के प्रयोग में भी तत्कालीन लोकजीवन के दर्शन होते है । गुप्तकाल में संस्कृत भाषा ही राजभाषा थी, सम्भवत: सम्पर्क भाषा भी इसलिए कहीं-कहीं साधारण पात्रों द्वारा भी संस्कृतनिष्ठ शब्दावली का प्रयोग कराया गया है । सुमेर काका कहीं-कहीं तत्सम शब्दों का प्रयोग करते है फिर भी उनके कथन में सहजता और स्वाभाविकता विद्यमान रहती है । यथा - "देवरात अबोध है लेकिन उसकी अबोधता में गति नहीं है । हलचल नहीं है,

---

1. पुनर्नवा - पृ. - 129.

क्षोभ नहीं है और तेरे सुमेर काका को यह सब पसन्द नहीं है । आर्यक अबोध है लेकिन उसमें गति है, प्रचण्ड गति ।" ।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि पुनर्नवा में गुप्त कालीन (चौथी शताब्दी) में लोकजीवन का यथार्थ-चित्र झलकता है । तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था पर भी उसकाल का पर्याप्त प्रभाव पड़ा दिखाई देता है । उपन्यास के पात्रों एवं चरित्रों के क्रियाकलाप भावहीन न होकर लोकजीवन में पाये जाने वाले भावों से ओतप्रोत है । आज के लोकजीवन में भी आने वाली ऐसी स्मृतियां एवं घटनाएं है जिन्हें हम चौथी शताब्दी के देशकाल में भी देखते है । उसे ही पुनर्नवा के वर्णन का आधार बनाया गया है । तत्कालीन लोकजीवन के आचार-विचार, रहन-सहन, रीति नीति, भाषा और उसके आसपास घिरी परिस्थितियाँ ही पुनर्नवा में देशकाल और वातावरण की संज्ञा धारण करती है ।

---

1. पुनर्नवा - पृ. - 41.

अध्याय - 5

कथोपकथन एवं भाषा शैली में लोकरंग

(क) कथोपकथन

औपन्यासिक विधा के अन्तर्गत कथोपकथन का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। उपन्यास की आत्मा कथोपकथन के अभाव में गूँगी मानी जाती है। पात्रों के चरित्र चित्रण में उसका विशेष महत्व होता है। कथोपकथन से उपन्यास में नाटकीयता आ जाती है। इससे देशकाल एवं वातावरण की भी छवि स्पष्ट होती है। आचार्य द्विवेदी ने पुनर्नवा के कथानक को लोकोन्मुख बनाने के लिए कथोपकथन का बड़ा सुन्दर और सधा हुआ रूप प्रस्तुत किया है। पुनर्नवा के कथन एवं उपकथन में जहाँ एक ओर लौकिक परिवेश प्रस्तुत किया गया है, वहीं भावी घटना की सूचना भी है। इसके साथ ही साथ उससे पात्रों के चरित्र पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। कुछ स्थलों पर कथोपकथनों में नाटकीयता भी है। "उपन्यास के कथोपकथन में स्वाभाविकता, सजीवता, सार्थकता और प्रभावोत्पादकता है। कथोपकथन सोद्देश्य, सुन्दर और वास्तविक है। संवादों में चिंतन की गहराई है। कथाक्रम को विकासोन्मुख करने में संवाद सक्षम है।"[1] प्रस्तुत कथोपकथन में लौकिक वातावरण का अच्छा चित्रण है -

---

1. डॉ० उमा मिश्रा - डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी का उपन्यास साहित्य एक अनुशीलन, पृ० - 256.

"चन्द्रा - अन्तरतम से आवाज आयी, नहीं, तृप्ति नहीं हुई पर मुँह से कुछ बोल न सकी । बाबा ने प्यार से एक हलकी चपत लगा दी । हाय, मैना कैसे कहूँ क्या देखा । ••• देखा आर्यक गहन वन में शिलापट्ट पर लेटा है । केश जटिया गये है, वस्त्र अस्त-व्यस्त है । आँखें लाल है । •••

अचानक देखती हूँ भयंकर मार-काट, हो हल्ला, नगर आग की लपटों में जल रहा है और आर्यक अकेला शत्रु व्यूह में कूद पड़ा है । ••• देर तक मार-काट चलती रही, ••• बाबा ने फिर सिर दबा दिया, क्या देखती हूँ फिर वही सरोवर बिलकुल हृदय में लहरा रहा है । आर्यक उसमें प्रवेश कर रहा है वहाँ आते ही वह कमल बनकर लहराने लगता है । दूसरी ओर तू (मृणाल) आती है । साथ में नन्हा शोभन है । दोनों कमल के फूल बन जाते है । ••• एक-एक लहर पर कमल लहरा उठते हैं ।

बाबा ने फिर कहा - उठ पद्मासने उठ जा ।" ।

पुनर्नवा में कथोपकथन के माध्यम से लोकजीवन की सच्ची रूपरेखा हमारे समक्ष प्रस्तुत होती है । आज भी लोकजीवन में देवर भाभी का सम्बन्ध अत्यन्त मधुर होता है । छेड़खानी के अतिरिक्त एक दूसरे से चुहले करना ही इस सम्बन्ध की सच्चाई एवं सद्भाव को व्यक्त करता है । पुनर्नवा के कथोपकथन में भी यह बात बहुत स्पष्ट रूप से हमारे समक्ष आती है । यथा -

"थाली में अनावश्यक रूप से कुछ डालने का भान करते हुए उन्होंने कहा, बुरा न मानो देवर, तो कहूँ कि तुम बड़े कठकरेजी हो । फूल सी बहू को छोड़कर बेकार इधर-उधर घूमते हो । मैं तो उसे बुलाऊँगी । देखूँगी, तुम कैसे भागते हो ।"

।• पुनर्नवा - पृ• - 178-179.

... बोला, "कठकरेजी हूँ नहीं भाभी, बनना पड़ा है। उसकी आँखें डबडबा आयीं। भाभी घबरा गयीं - "बुरा मान गये देवर, तुम्हारी भाभी मुर्खा है। चाहा था तुम्हारा मनोविनोद करना, कर कयी मर्म पर आघात। नहीं लल्ला मै परिहास कर रही थी। मै क्या जानती थी कि तुम्हारा मन मक्खन सा मुलायम है।"[1]

कथोपकथन का चरित्र चित्रण में विशेष महत्व होता है। पुनर्नवा में कथोपकथन के द्वारा चरित्रों का लौकिक विश्लेषण तथा लौकिक व्याख्या होती है। निम्न उदाहरण में संवादों के माध्यम से मैना व चन्द्रा के चरित्र पर जो प्रकाश पड़ता है वह लोकजीवन के दृष्टिकोण को उजागर करता है। - सुमेर काका एवं एक युवक के वार्तालाप में यह बात स्पष्ट होती है -

"युवक सम्भ्रम के साथ उठ खड़ा हुआ - तो तात यह क्या महावीर गोपाल आर्यक की पत्नी मृणाल मंजरी है।"

"हाँ आयुष्मान तुमने ठीक ही पहचाना है।"

"क्षमा करें तात मैंने सती शिरोमणि मृणाल-मंजरी का यश बहुत सुना है। उधर गांव की स्त्रियां इन्हें ही मैना मांजर देई कहकर पूजती है। मुझे श्रद्धेय को श्रद्धा निवेदन करने में कोई चूक नहीं हुई तात, मै धन्य हूँ। मैंने सतीत्व की साक्षात् विग्रह अरून्धती कल्पा देवी की पहचानने में कोई भूल नहीं की। अच्छा काका आप तो सम्राट को दोषी बता रहे है। पर यह क्या सत्य नहीं है कि गोपाल आर्यक ही इस सती-पत्नी के दु:ख का कारण बना ? क्या वह किसी पर स्त्री को लेकर भाग नहीं गया था।"[2]

---

1. पुनर्नवा - पृ. - 195.
2. पुनर्नवा - पृ. - 254.

एलिजाबेथ ब्राउन का कथन है कि "प्रत्येक संवाद से उसके बोलने वाले के चरित्र एवं स्वभाव का परिचय मिलना चाहिए । इसके लिए लेखक को सावधानी वरतनी पड़ती है कि वार्तालाप, उसमें भाग लेने वाले पात्रों के व्यवसाय, स्वभाव, रूचि शिक्षा-स्तर का परिचय मिलना चाहिए । पुनर्नवा के संवादों में यह सावधानी सजगता पूर्वक बरती गयी है । आरंभ में ही मंजुला व देवरात के आश्रम में पढ़ने वाले श्यामरूप और गोपाल आर्यक के बीच संवाद में मंजुला का लौकिक वात्सल्य एवं विनयशीलता, आश्रम की पवित्रता दिखाई देती है, जिसमें बच्चों का भोलापन बहुत ठीक ढंग से व्यक्त होता है -

"आर्ये क्या आप हमारे गुरूजी को खोज रही है ? क्या आप भी पढ़ने आयी है । हमारे गुरूजी आप को बहुत अच्छी तरह पढ़ाएँगे । आइए, आइए, स्वागत है ।"

"हाँ वत्स मै गुरू जी के दर्शन के लिए ही आयी हूँ । उनसे निवेदन करो कि मंजुला दर्शन का प्रसाद पाना चाहती है ।" [1]

मंजुला और देवरात के बीच हुए संवाद भी दोनों की स्वभावगत विशेषता लोकजीवन की स्थिति, प्रसंग तथा परिस्थिति के अनुकूल है । -

"देवि, इस आश्रम को धन्य करने का कारण क्या हुआ ? मै किस सेवा के योग्य हूँ ? शुभे, तुम्हारा चेहरा उदास देख रहा हूँ । कल्याण तो है ?"

"आर्य उस दिन मेरे कविता पाठ से आप को चोट लगी । अपराधिनी को क्षमा करना, मै बहुत लज्जित हूँ ।" [2]

इस कथोपकथन से एक ओर मंजुला की आत्मग्लानि, अनुताप मर्मांतक व्यथा का पता चलता है, दूसरी ओर देवरात की अतिशय लौकिक गरिमा, शिष्टता कल्याण भावना आदि लोक भावों का । उनका लौकिक

---

1. पुनर्नवा - पृ. - 19.
2. पुनर्नवा - पृ. - 20.

प्रगतिशील दृष्टिकोण उनके इस आश्वासन में व्यक्त होता है । -

"मै भुजा उठाकर कह सकता हूँ देवि, तुम्हारे भीतर देवता का निवास है । तुम जिस पाप जीवन की बात कह रही हो वह मनुष्य की बनाई हुई विकृत सामाजिक व्यवस्था की देन है । चिन्ता न करो देवि, इससे उद्धार हो सकता है ।" [1]

पुनर्नवा में संवादों के बीच-बीच में लेखक पात्रों, उनकी मन:-स्थिति, मुद्राओं और प्रतिक्रियाओं के विषय में अलग से बहुत कुछ जोड़ दिया जाता है जिससे उपन्यास में पूर्ण नाटकीयता नहीं आ पाती तथापि संवाद पात्रों के स्वभाव लोकजीवन का स्तर उसकी सामाजिक मर्यादा को व्यक्त करने में पूर्ण सक्षम है । देवरात के कथन दर्शन का पुट लिए होने पर भी सर्वथा लौकिक प्रसंगानुकूल है । -

"यहाँ शुद्ध स्वर्ण कहीं नहीं है, सब जगह खाद मिला हुआ है । सब कुछ शुद्ध सुवर्ण और खाद मिला हुआ हेमालंकार है । ••• पाप और पुण्य जब उसी को समर्पित हो जाते है । तो समान रूप से धन्य हो जाते है । मन में खोट न आने दो देवि, तुम नारायण की स्मित रेखा के समान पवित्र हो, आह्लादक आनन्ददायिनी हो ।" [2]

पुनर्नवा में कथोपकथन द्वारा पात्रों के सहज स्वभाव पर भी प्रकाश पड़ता है । सुमेर काका और मृणाल के बातचीत से एक ओर काका के फक्कड़, हंसोड़ स्वभाव, सहृदयता निद्वन्द होकर लोकोक्तियों को कहने की प्रवृत्ति स्पष्टवादिता आदि का तो पता चलता ही है, साथ ही साथ मृणाल के तेजस्वी स्वभाव, तर्कशक्ति, जिज्ञासा भाव और शील का भी -

---

1• पुनर्नवा - पृ• - 20.
2• पुनर्नवा - पृ• - 21-22.

मृणाल ने धीरे-धीरे कहा, "लड़कियाँ इस अनाचार के उन्मूलन में कुछ हाथ नहीं बँटा सकतीं, काका ? ••• ऐसा क्यों होगा, काका ? जो बात कविता में फबेगी वह व्यवहार में क्यों नहीं फबेगी ?"

"तेरा काका अटूट गंवार है । जवानी में उसने एक ही काम किया- सीधे टूट पड़ना, फिर चाहे प्राण रहें, चाहे जायें । बुढ़ापे में भी उसकी यही आदत बनी हुई है । ••• सुमेर काका एक ही बात जानता है । सज्जन है, चरण की धूल लो । दुर्जन है नाक तोड़ दो"

"पिताजी कहते हैं तुम तो कभी हारते ही नहीं ।"

"हार जाता हूँ बिटिया, बुरी तरह हार जाता हूँ । पर हार मानता नहीं ।" [1]

किन्तु इसके साथ ही सुमेर काका गंभीर विषयों पर भी अपने गंभीर विचार व्यक्त करते हैं । "यह आकास्मिक नहीं कि द्विवे जी ने "पुनर्नवा" में अपनी बात कहने के लिए शास्त्रज्ञ और कला मर्मज्ञ देवरात की नहीं बल्कि सहज ज्ञान सम्पन्न एक "अटूट गंवार" किसान सुमेर काका को प्रवक्ता के रूप में चुना । जब वे कहते हैं कि "मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है तो उनके सामने यही मनुष्य होता है कोई अमूर्त अवधारणा नहीं ।" [2] दरअसल काका के ये विचार द्विवेदी के अपने व्यक्तित्व एवं मान्यता से ओतप्रोत हैं । आचार्य द्विवेदी के सम्मुख साहित्य की मूल्यों की पीठिका में सामान्य मनुष्य ही था । "साहित्य की चर्चा करते समय द्विवेदी जी के सम्मुख सदैव हमारे घरों के निकट के चमार, धीवर, कोरी, कुम्हार आदि होते हैं जिन्हें वे गणदेवता कहते हैं और साहित्य के लक्ष्य के रूप में जाति-धर्म-निर्विशेष मनुष्य का हित होता है । साहित्य को

---

1. पुनर्नवा - पृ. - 41.
2. डॉ0 नामवर सिंह - दूसरी परम्परा की खोज, पृ. 100.

द्विवेदी जी इसी मनुष्य से मापते है ।"[1] इस तरह काका का चरित्र एक गतिशील लोकजीवन का चरित्र है । जो हर वस्तु की अपनी एक गतिशील परिभाषा रखता है । जिसका सम्बन्ध मात्र आस्वादन से न होकर उसके मर्म से होता है ।

पुनर्नवा में हम यह भी देखते है कि कथोपकथन में कहीं-कहीं वक्ता स्वयं ही श्रोता होता है । वह अपने आप से वार्तालाप करता है । वार्तालाप का विषय प्राय: लोकसांस्कृतिक विचार ही है । सामान्यत: इस शैली में स्वगत कथन ही है । कथोपकथन के वैचारिक खण्डों में कुछ ऐसे ही स्थल प्राप्त होते है जिनमें स्वप्न के माध्यम से वक्ता की मानसिक स्थिति को व्यक्त किया जाता है और उसके विचार को अभिव्यक्ति प्रदान की जाती है । पुनर्नवा के स्वगत कथन लोकजीवन की स्पष्ट और निष्कलंक अवस्था को व्यक्त करते है । स्वगत कथनों में वक्ता स्वयं को भी पूर्ण निष्कपटता के साथ व्यक्त करता है । क्योंकि वहाँ उसके कथनों पर कोई टीका-टिप्पणी करने वाला नहीं होता है । पुनर्नवा में ऐसे कथन वक्ताओं की सही और सहज अवस्था को व्यक्त करते है । इनका अध्ययन विश्लेषण पात्रों की मानसिक स्थिति को सत्य रूप में उद्घाटित करता है, साथ ही उनके व्यक्तित्व को भी विश्लेषित करता है । स्वगत में पात्र दर्शन तत्व पर विचार करते समय दार्शनिक हो उठता है -

"सफलता और असफलता का हिसाब कायर लगाते है । जो शूर है, वे अपने निश्चय पर चट्टान की तरह दृढ़ और आंधी की तरह गतिशील होते है । अपनी बात को पुष्ट करने के लिए उन्होंने भारवि का कोई श्लोक पढ़ा था । लगा था - जो वे कह रहे है, वही सत्य है क्योंकि उनकी वाणी में प्राणों का वेग था, आस्था की दृढ़ता थी । अब लग रहा है कि सत्यवाणी के अर्थ का नाम नहीं है, उसके पीछे रहने वाले प्राणवेग और आन्तरिक सच्चाई का नाम है ।"

---

1. डॉ0 नामवर सिंह - दूसरी परम्परा की खोज, पृ. 100.

चन्द्रमौलि और माढ्व्य का कथोपकथन उन दोनों के स्वभाव लोक रूचि, संस्कार आदि को उजागर करता है -

"अब मै बेटे का भी दादा हूँ, बाप का भी दादा हूँ । बहू का भी दादा हूँ । ससुर का भी दादा हूँ । ••• ससुराल गया तो सालियां भी दादा कहती पायी गयीं । अब तो मित्र, यदि कोई मुझे दादा नहीं कहता तो मै समझता हूँ ऊत है, ऊत । ••• "

"अवश्य कहूँगा । आप जब गांव भर के दादा है तो मेरे भी दादा है ।"

"समझदार मालूम पड़ते हो । कभी-कभी कवि लोग भी समझदारी की बात करते है । ••• " ।

ये कथन पात्रों के हास्य, व्यंग्य, परिहास ऊपर से मूर्खतापूर्ण बात में भी तत्व की बात कहने में लौकिक कुशलता प्रकट होती है । हमें यह मालूम होना चाहिए कि लोकजीवन में बातों के जरिये मनोविनोद की आम परम्परा रही है । उसका स्वरूप हमें इस कथोपकथन में स्पष्ट होता है ।

पुनर्नवा में "अपने आप को दलित-द्राक्षा की भांति निचोड़कर महा अज्ञात के चरणों में उँडेल देने का लोक आदर्श स्थापित है । पुरूष के चित्त में लौकिक प्रेम, समर्पण, विश्वबंधुत्व आदि के सामान्य आदर्श लोक के धरातल से ही प्रकट हो सकते है । पुनर्नवा में मंजुला पूर्ण समर्पण के लोकादर्श की उद्घोषिका है । "पुनर्नवा" विशेषण उसी को दिया गया है । उपन्यास के आरम्भ में देवरात के बासी घाव को वही ताजा करती है । मरकर भी वह भावरूप में जीवित है । कथा विकास के क्रम में देवरात को वृन्दावन और आर्यक को धूता देवी के पास जाने को प्रेरित करती है । देवरात उसे सम्बोधित करते हुए कहते है - "तुम आती हो दिव्य वेश में, तुम्हारे प्रत्येक पद संचार से प्राणों

।• पुनर्नवा - पृ• - 89.

का उद्‌बोधन होता है । मुरझाए अंकुर खिल उठते है, कलियां चटकने लगती है । सारे ब्रहमाण्ड में जीवन रस उमड़ पड़ता है ।" [1] देवरात के इस कथन की व्याख्या लोकजीवन के अनुभवों के संदर्भ में ही की जा सकती है । यह आदर्श अपने प्रभावक रूप में मुख्यत: लोक जीवन से ही सम्बन्धित है जिससे कथानक का लौकिक सौन्दर्य प्रभावित होता है ।

पुनर्नवा में कथोपकथन के द्वारा बड़ी कुशलता, बड़ी सूझ-बूझ के साथ अलौकिक में लौकिक, दिव्य में पार्थिव तथा चिन्मय में मृण्मय की छटा दर्शायी गई है । लौकिक दृष्टि के आलोक में समस्त उलझे हुए कौतूहलपूर्ण एवं रहस्यावृत्त प्रसंग अपनी सहजता के साथ स्पष्ट हो जाते है । किन्तु कथानक के बीच-बीच में द्विवेदी जी का जागरूक बौद्धिक विचारक भी अवसर की प्रतीक्षा में रहता है । मनुष्य की भौतिक पहचान के भीतर अधिभौतिकता के मर्म को पुनर्नवा में एक कथन के माध्यम से इस प्रकार व्यक्त किया गया है - देवता न बड़ा होता है न छोटा । न शक्तिशाली होता है न अशक्त, वह उतना ही बड़ा होता है जितना बड़ा उसे उसका उपासक बनाना चाहता है । तुम्हारा देवता भी तुम्हारे मन की विशालता और उज्जवलता के अनुपात में विशाल और उज्ज्वल होगा ।" [2] तत्कालीन लोकजीवन में व्याप्त न्याय-व्यवस्था के प्रति दृष्टिकोण भी पुनर्नवा में चित्रित किया गया है । एक कथन में लोक की दृष्टि से कार्य करने वाला दण्डनीय है, वह राजा हो या सामान्य जन । "निर्णायक को पांच दोषों से बचना चाहिए - राग, द्वेष, लोभ, भय और एकांत में वादियों की बात सुनना ।" [3]

विषय, पात्र, मन:स्थिति और लोकजीवन के अनुरूप होने के कारण पुनर्नवा के संवादों में काफी ताजगी है । आर्यक और मृणाल की पहली

---

1. पुनर्नवा - पृ. - 225.
2. " - पृ. - 20-21.
3. " - पृ. - 155.

भेंट के अवसर पर होने वाली बात-चीत लोकजीवन में रहने वाले किशोर-किशोरी के प्रथम मिलन के अनुरूप तो है ही उनकी लोकमन:स्थिति को भी उद्-घाटित करती है । मृणाल के चकित मन की स्तब्धता, उसका अभिमान, उलाहना अभियोग, व्याकुलता, आशंका और फिर धीरे-धीरे सामान्य स्वाभाविक स्थिति को प्राप्त कर विदग्ध हो जाना उसके कथोपकथन से स्पष्ट हो जाता है तो आर्यक की मुग्धावस्था, आवेश, रूठी प्रेयसी को मनाने का भाव तथा आश्वस्त करने की लोकभावना उसकी बातों से प्रकट होती है -

"मैं आ गया मैना ! मेरे रहते तेरी छाया भी कोई छू नहीं सकेगा । ••• नाराज हो गयी है मैना ! मेरे ऊपर विश्वास कर अब मैं तुझे अकेला नहीं छोड़ूँगा ।"

.....

"छोड़ों क्या कर रहे हो ।"

"क्षमा कर दो मैना, मैंने अनुचित किया ••• बुरा मान गयी मैना ?"

"हाँ मुझे अब मत छोड़ना ।"

"अभी तो तूने कहा मैना, छोड़ दो । अब कहती हो मुझे मत छोड़ना ।"

"व्याकरण भी भूल गए । "छोड़ दो" वर्तमान काल है और "मत छोड़ना" भविष्यत काल ।"

"कहाँ का व्याकरण और कहाँ का काव्य ! कुश्ती लड़ता हूँ और दण्ड बैठक किया करता हूँ तेरे साथ रहूँगा तो शायद फिर से काव्य व्याकरण लौट आयें ।"[1]

---

1. पुनर्नवा - पृ. - 47.

आर्यक और देवरात के संवाद में आर्यक की भावावेष पूर्ण मन: - स्थिति का संकेत मिलता है तो देवरात को स्थिर बुद्धि, शान्त-स्वभाव और लोकजीवन के अनुभवों से कूट-कूट कर भरे हुए प्रौढ़ व्यक्तित्व का -

"गुरूदेव मैं मैना को यहाँ अकेली नहीं रहने दूँगा । अनुमति दें तो इस मैं अपने घर ले जाऊँ ।"

"यह कैसे हो सकता है बेटा, तुम्हारे पिता की अनुमति लिए बिना इसे मैं तुम्हारे घर कैसे भेज सकता हूँ ?"

"क्यों, इसमें दोष क्या है ?"

"दोष है । सयानी-कुँवारी कन्या को कोई पिता किसी के घर कैसे भेज सकता है । तुम बालक हो । तुम्हें यह बात समझ में नहीं आयेगी । ••• मैं अपनी कन्या को तभी तुम्हारे साथ जाने दूँगा जब तुम अग्नि को साक्षी करके इसकी रक्षा की प्रतिज्ञा करो । ••• इसका मतलब होगा कि तुम शास्त्र-विधि से मैना का प्राणिग्रहण करो ••• ।"[1]

बातचीत करते समय पात्रों की लौकिक मन:स्थिति का पता संवादों के माध्यम से लगता है । चण्डसेन और भट्टारक के संवादों में लौकिक क्षोभ और आक्रोश का पता लगता है । मृणाल-चन्द्रा के कथोपकथनों में दोनों के हृदय में उमड़ने वाली लोकवेदना, एक दूसरे के लिए त्याग का अपूर्व आग्रह, आर्यक के प्रति चन्द्रा के लौकिक प्रेम, दृढ़संकल्प, सेवा भाव, कृतज्ञता की भावना आदि का परिचय मिलता है । -

"छोड़ो दीदी, क्या पागल हो गयी हो ?"

"एकदम पागल, तेरी दीदी उन्मादिनी है, विकट उन्मादिनी । पर बता, तू इतनी उदास क्यों हो जाती है ? जब तू उदास होती है तो इस

---

1. पुनर्नवा - पृ. - 48.

उन्मादिनी की छाती फटने लगती है । पापी आर्यक न तुझे सुख से रहने देगा, न स्वयं सुख से रहेगा । हाय, हाय, क्या दशा कर दी है मेरी फूल सी बहन की । कायर, डरपोक, भगोड़ा ।"

"ना दीदी तुम उन्हें ऐसा न कहो ।" [1]

पूर्व अध्यायों में भी हम कह चुके हैं कि आचार्य द्विवेदी ने पुनर्नवा में नारी के लौकिक रूप को गढ़ा है । जो समस्त सामाजिक रूढ़ियों को तोड़कर नयी मान्यताओं को स्थापित करती है । इस उपन्यास के कथोपकथनों में मूलत: स्त्री के अन्तर्द्वन्दों की व्याख्या ही है । पुनर्नवा की नारी पात्र लोकजीवन से सम्बन्ध रखते हुए भी पत्थर तोड़ती हुई मजदूरिन के रूप में पूँजीपतियों के शोषण की शिकार नहीं है । अपितु अपने चारों ओर एक अद्भुत लौकिक प्रभापुंज समेटे हुए नारी हृदय की कोमलता, सहृदयता का परिचय देती है । आर्यक और धूता का संवाद इस दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण है -

" बताओ भाभी मेरे गंवारपन की शपथ है, ठीक-ठीक समझा दो ।"

"बलि-बलि जाऊँ इस गंवारपन पर ! तो गिनो ऊँगली पर ।"

"गिन रहा हूँ ।"

"एक आँख चन्द्रा रानी ! ठीक ?"

"ठीक, एक !"

"दूसरी आँख मैना रानी ! ठीक ?"

"ठीक, दो ।"

"और तीसरी आँख तुम्हीं बताओ भोलानाथ ?"

---

1. पुनर्नवा - पृ. - 162.

"बता दूँ ?"

"बनते हो, जान बूझकर बनते हो ।"

"नहीं भाभी, पहले बता दूँ, फिर तुम बताना कि ठीक हुआ कि नहीं ।"

"बताओ !"

"तीसरी आँख मेरी नागरी भाभी ! ठीक ?"

"पेट में दाढ़ी है तुम्हारे ! है न ?"

"तीसरी आंख से देखने का प्रयत्न कर रहा हूँ । हाँ, है ।"

"कित्ती बड़ी है ?

"बहुत बड़ी, यही भाभी के बराबर ।" ।

पुनर्नवा में कथोपकथन का भाषा विषयक आदर्श लोक की दृष्टि से ही निर्धारित हुआ है । ग्रामीण जीवन से सम्बन्ध रखने वाले पात्रों की वार्ता में ठेठ और लोक प्रचलित शब्दों का यथेष्ट प्रयोग किया गया है । लौकिकता की प्रतिष्ठा के निमित्त कथोपकथनों में कहावतों और मुहावरों का भी प्रयोग किया गया है । कहीं-कहीं लोकभाषा मिश्रित बात-चीत वाले वाक्य बड़ी स्वाभाविकता से प्रस्तुत किये गए हैं । इस दृष्टि से सुमेर काका, माढव्य शर्मा, नट-मंडली की भाभियों आदि पात्रों के कथोपकथन उल्लेखनीय है । कथोपकथन परिस्थिति और पात्र के अनुकूल होना चाहिए । उसका पात्र के बौद्धिक विकास में सहयोगी होना भी बहुत आवश्यक है । कथोपकथन की भाषा ही पात्र के अनुकूल नहीं होनी चाहिए वरन् उसका पूरा विषय भी पात्रों के मानसिक धरातल के अनुकूल होना वाँछनीय है ।"[2] पुनर्नवा के कथोपकथन योजना

---

1. पुनर्नवा - पृ. - 273, 74.
2. बाबू गुलाब राय - काव्य के रूप, पृ. - 175.

में इस बात का पूरा ध्यान रखा गया है । ग्रामीण शब्द प्रयोग और ग्रामीण भाषा की व्यंजना द्वारा खड़ी बोली के ढाँचे में आंचलिकता को साकार करने की चेष्ठा पुनर्नवा में की गयी है । लोकगीतों लोकोक्तियों आदि को कथोपकथन में स्थान देकर लोकरंग उभारने का सफल प्रयास किया गया है ।

पुनर्नवा के कथोपकथन का सबल पक्ष है लोकजीवन एवं उसके मनसायन प्रकृति का और लोक की भोली जनता के संघर्षमय जीवन का । आचार्य द्विवेदी स्वयं लोक की मिट्टी और प्रकृति के विलक्षण रूप से आकृष्ट लेखक है यह आकर्षण विभिन्न पात्रों के माध्यम से बार-बार प्रकट होता है । चन्द्रमौलि कहता है-"परन्तु उन दिनों मुझे नहीं मालूम था कि प्रकृति के कण-कण में एक अद्भुत वेदना विलसित हो रही है । जब मैं निर्झर को वेगपूर्वक नीचे की ओर दौड़ता देखता हूँ तो मन रो उठता है । क्यों इतनी व्याकुलता है इसमें । ... प्रथम मेघ वर्षण के समय जब धरती के आंचल में छिपे हुए बीज अंकुर फूट पड़ते हैं तो मेरा हृदय हाय, हाय कर उठता है । किस अज्ञात प्रियतम के लिए यह कसमसाहट है ।" ।

पुनर्नवा मे ऐसे अनेक कथोपकथन हैं जिनसे लोकजीवन में घटने वाली घटनाओं की सूचना दिलाकर कथा को गति प्रदान की गई है । वीरक-श्यामरूप, श्रुतिधर-श्यामरूप, सोमेश्वर सुमेर काका के बीच होने वाली बातचीत पाठक को ही नहीं पात्रों को भी लोक-जीवन से जोड़ती है । इससे कथा को लौकिक पुट प्राप्त होता है । जिसमें लोकजीवन अपने भरे पूरे रूप में पूरी सच्चाई, तीव्रता और बेबाकी के साथ सामने आता है । कथोपकथन के माध्यम से तत्कालीन राजनीतिक व्यवस्था एवं सामाजिक व्यवस्था पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है । चौथी शताब्दी के भारतीय लोकजीवन में अलौकिक सिद्धियों, चमत्कारों, स्वप्नों, शकुनों और भविष्यवाणियों में विश्वास था, यह बात पात्रों के संवादों से स्पष्ट होती है ।

।· पुनर्नवा - पृ· 89, 90.

इन लौकिक प्रवृत्तियों के अतिरिक्त पुनर्नवा के कथनों में लौकिक दृष्टि से कुछ दोष भी है। कहीं पात्रों का दार्शनिक चिन्तन, कहीं सिद्धान्त कथन तो कहीं कवि-सुलभ भावुकता और काव्यमयता संवादों को बोझिल बना देती है जिससे उसके लौकिक स्वरूप में बाधा उत्पन्न होती है। ऐसे स्थलों पर लगता है हम संवाद नहीं पात्रों को एकान्त में चिन्तन करते हुए सुन रहे है। संवाद पढ़ते समय ऐसा लगता है कि वे पात्र संवादों द्वारा लेखक के विचारों को प्रकट करने हेतु ही आयोजित किये गये है। ऐसे संवाद न मात्र कथा की गति को सिथिल करते है अपितु उपन्यास के पात्रों की सहजता, स्वाभाविकता और लौकिकता को भी आघात पहुँचाते है। फिर भी पात्रों के कथोपकथन में स्थानीय शब्दों-वाक्यों और लोकोक्तियों आदि का प्राय: प्रयोग करने से लौकिकता का पूरा पुट आ गया है। लौकिक जीवन के यथार्थ की सजीव और प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति के लिए पात्रों के मुख से जिस भाषा का प्रयोग कराया गया है उससे लोकजीवन का सत्य और उसके बहुविधि चित्र आंखों के सामने स्वत: मूर्तिमन्त हो जाते है। पुनर्नवा में ऐसे प्रयोगों की बहुतायत है। लोकगीतों, लोकोक्तियों आदि को कथन के बीच जमाकर लोकरंग उभारने का कौशल दिखाया गया है।

(ख) भाषा शैली

पुनर्नवा में लोकभाषा के उपयोग के आधार पर भाषा के अनेक रूप दिखाई पड़ते है। पुनर्नवा की आधार भूत भाषा तो खड़ी बोली है लेकिन लौकिक स्वाभाविकता को लाने के लिए पात्रों के वार्तालाप में लोकशब्दों का एवं लोकोक्तियों का प्रयोग कर लोकसांस्कृतिक अभिव्यक्ति रूपों से साक्षात्कार कराया गया है। इस उपन्यास में खड़ी बोली के ढाँचे में लोकभाषा स्वरूप बहुत कुछ शब्दों तथा वाक्यों के प्रयोग तक सीमित है जो वस्तुत: लोक-शब्दों के प्रयोगों द्वारा खड़ी बोली हिन्दी के एक विशिष्ठ रूप का दर्शन कराता है।

यह रूप लौकिक से नगरीय भाषा के सम्मिश्रण द्वारा उत्पन्न बहुधा वह व्यवहारिक रूप ग्रहण करता है जो लोक-जनों में प्रचलित है और लोक शैली की खड़ी बाली अथवा बोली के खड़ी बोलीकरण का रोचक नमूना है। पुनर्नवा की भाषा के साथ लोकसास्कृतिक तत्व घुले मिले है। भाषा के इस ठाठ में उपस्थित उन तत्वों के दबाव के कारण ही उपन्यासकार एक विशेष अभिप्राय से उनकी रचना किया है। इसलिए पुनर्नवा में प्रयुक्त इस प्रकार की भाषा में लोक-शब्दों के साथ अंचल विशेष की लोकतात्विक चेतना से अनुप्राणित लोक-सांस्कृतिक तत्व लगे चले आते है। ये तत्व उस भाषिक संरचना के अंश है जो लोक-मनोविज्ञान और लोकजन की सोचने की प्रक्रिया तथा अभिव्यक्त करने की लोक शैली से सम्बन्ध रखते है।

आचार्य द्विवेदी पुनर्नवा में मौलिक रूप से लोकोक्तियों, लोक-गीतों, लोक वचनों, संभाषणों आदि के उद्धरण अथवा प्रयोग द्वारा लोकजीवन की भाषिक अभिव्यक्तियों को जैसा का तैसा प्रस्तुत कर लोक का सही तथा स्वाभाविक चित्र प्रस्तुत करते है। ये नमूने लोकजीवन से चुने गये है। इनके साथ लोकतात्विक सत्ता परम्परा प्राप्त ढंग से चिरकाल से निबद्ध है। लोकप्रचलन एवं लोक-स्वीकृति के कारण इनको लोकप्रियता आज भी प्राप्त है। ये लोकमुख से प्रव्यक्षत: ग्रहीत है और लोक की प्रज्ञा, बुद्धिमत्ता, अनुभूतिवातुरी, रसात्मक भावना, नीतिमत्ता आदि का प्रतिनिधित्व करते है। इसलिए इनसे जुड़े लोक तत्व लोकजीवन के सम्पूर्ण संस्कार, व्यवहार और विचार को बड़ी तीव्रता तथा यथार्थता के साथ अनुभूत कराने में समर्थ होते है। पुनर्नवा में भाषा की इकाइयों अर्थात् वाक्यों के रूप में ऐसे सार्थक लोकवचनों का उददेश्य लोक-सांस्कृतिक चित्रण है। इस दृष्टि से इनकी संरचना स्वरूप भाषिक होते हुए भी लोकसांस्कृतिक है।

इस प्रकार के अनेक उदाहरण हमें पुनर्नवा में मिलते है जो सामान्यतया मध्यकालीन लोकजीवन को यथार्थवादी ढंग से चित्रित करते है।

साथ ही लोकसाहित्यिक और लोकसांस्कृतिक दृष्टिकोण को भी स्पष्ट करते है । भाषा की दृष्टि से इन स्वरूपों का अलग महत्व है किन्तु वे लोक की स्वाभाविकता और स्थानीय विशेषता सम्बन्धी भाषिक अभिव्यक्ति की प्रणाली पर भी प्रकाश डालते हैं । भाषा, अभिव्यक्ति तथा विचार सम्प्रेषण का माध्यम् है । यह सामाजिक वस्तु है और सामाजिक व्यवहार द्वारा ही अर्जित होती है । इसका स्तर समाज की दृष्टि से ही निर्मित होता है । लोक भाषा की अपनी परम्परा, परिवेश और जातीय विशेषताएं होती है । ये विशेषताएं लोकजीवन की मनोवृत्तियों, लोक-संस्कारों और परिस्थितिगत व्यवहारों से संयुक्त होती है । पुनर्नवा के लोक चरित्रों का यथार्थ चरित्र चित्रण उपन्यास में प्रयुक्त लोक भाषा के संस्पर्श से ही संभव हो सका है । इसलिए पुनर्नवा में इसका उपयोग आवश्यक रूप से हुआ है ।

उपन्यास में प्रयोग किए हुए शब्द अस्वाभाविक न लगें, इसके लिए आचार्य द्विवेदी ने लोक भाषा की प्रवृत्ति के अनुसार उसके रूप को व्यवस्थित कर दिया है । उसमें कुछ ठेठ शब्दों का प्रयोग तो अवश्य हुआ है जिसका पर्याय खड़ी बोली में है ही नहीं । लोक चाल-चलनों, प्रथाओं, पूजा-पाठ से सम्बन्धित विशिष्ट शब्दों का प्रयोग पुनर्नवा में हुआ है । उनके उपयुक्त प्रयोग द्वारा लोकजीवन बड़े ही स्वाभाविक और वास्तविक रूप में पात्रों के बोलचाल में रूपायित किया गया है । काका, रेभिल और भीमा अधिकतर ग्रामीण भाषा का ही प्रयोग करते है । यदा-कदा संस्कृत के शब्दों का उच्चारण सही नहीं कर पाते - "तू मूर्ख ही रह गया रे भीमा, गोपाल आर्यक भी नहीं बोल सकता ?" उसने विनीत भाव से कहा, "हम लोग तुम्हारे समान सासतर थोड़े ही पढ़े है पण्डित जी, ठीक-ठीक बोल पाते तो हम भी तुम्हारी तरह पुजवाते न फिरते ? तुमने जो नाम बताया वह क्या कहा - गोवाल आरिक, बड़ा कठिन नाम है । ग्वालारिक जैसा तो सुनाई पड़ता है देवता !" ।

।• पुनर्नवा - पृ• - 129.

पूर्व अध्यायों में हम यह स्पष्ट कर चुके है कि पुनर्नवा की कथा का सम्बन्ध भी भारत के अतीतवर्ती लोकजीवन से है । गुप्तकालीन लोकजीवन की पृष्टभूमि पर उन्होंने लोककथाओं, जनश्रुतियों के अतिरिक्त प्राकृत-अपभ्रंश की रचनाओं से ग्रहीत सामग्री के आधार पर एक ज्वलन्त युग सत्य को पाठकों के सामने रखा गया है । नंगे पैर देवरात के आश्रम में जाती हुई मंजुला के लोक छवि को यद्यपि शुद्ध हिन्दी में व्यक्त किया गया है तथापि उसका स्वरूप अत्यन्त स्वाभाविक और मनोहर है । इस क्रम में ऐसा प्रतीत नहीं होता कि आचार्य द्विवेदी ने जान बूझकर पाण्डित्य प्रदर्शन के लिए यह सबकुछ नहीं किया है । वह अनायास ही आ गया प्रतीत होता है, और उपन्यास के कथा-प्रवाह में एकरूप हो जाने के कारण खटकता नहीं है - "देखते रहो, जनम की विलासिनी, करम की मायाविनी गणिका अगर पूजा-पाठ करने लगे, तो मानना होगा कि बबूल में कमल के फूल खिलते है, पनाले में भी सुगन्धि फूटती है, सर्पिणी भी पुजारिनी बन सकती है ।" ।

शार्विलक के भागने के प्रसंग में हमें मालूम होता है कि आज जो लोकजीवन में "कोस" दूरी नापने के लिए होता वह क्रोश से कैसे बना । घन्टे पर प्रहार कर जो व्यक्ति साधारण नागरिकों को समय की सूचना देते थे वे "प्रहरी" कहलाते थे । वे ही बाद में राज-भवनों आदि में खतरे के समय घण्टा बजाने और उनकी रक्षा करने के लिए नियुक्ति किये जाने के कारण आज भी प्रहरी" या लोकजीवन में "पहरू" कहे जाते है । "शालि" और "होत्र" किस तरह लोकजीवन में घोड़ा बन गए, "शाल्यनीक" कैसे "साड़नी" हो गया, उपाध्याय कुल कैसे ओझाउल बना, श्यामरूप संवरू, शार्विलक, छबीला ; गोपाल आर्यक - लोरिक, मृणाल मंजरी, मैना मांजर देई कैसे हो गई इसका उत्तर लोक से ढूंढकर आचार्य द्विवेदी ने बड़े ही रोचक ढंग से दिया है ।

।• पुनर्नवा - पृ• - 18.

पुनर्नवा की भाषा लौकिक उपमानों और सटीक विशेषणों के कारण निखर उठी है । मृणाल के शरीर में उच्चावच लोक-भावों के उन्मीलन और चित्त में होने वाले संकोच विस्फार का वर्णन करते हुए जिन लौकिक उपमानों का प्रयोग किया गया है वे अत्यन्त नवीन हैं । लोकविशेषणों के प्रयोग से आचार्य द्विवेदी ने मात्र पुनर्नवा की भाषा को ही नहीं अपितु हिन्दी भाषा को नई शक्ति प्रदान की है । अटूट गँवार, अनार मुख, अनर्गल घूमना, लण्ठ आदि ऐसे ही प्रयोग हैं । अनावश्यक उपसर्गों को हटाकर शब्दों के अर्थ को लौकिक दीप्ति प्रदान करने की उनकी क्षमता अद्वितीय है । "गाढ़राग, गाढ़ वेदना जैसे प्रयोगों में से "प्र" उपसर्ग निकालकर उन्होंने लौकिक अर्थवत्ता प्रदान की है । इस प्रकार हम देखते है कि आचार्य द्विवेदी पुनर्नवा में न मात्र लोक प्रचलित शब्दों का ही प्रयोग करते हैं अपितु उनका स्वयं निर्माण भी करते हैं ।

आचार्य द्विवेदी लौकिक कार्य व्यापारों और रूप सौन्दर्य का वर्णन करते-करते प्रचलित और ठेठ शब्दों का प्रयोग कर कथ्य को प्रभावशाली बनाने और उक्ति को लौकिक भंगिमा प्रदान करने में सफल हुए हैं । अलंकार मंडित, समासगर्भित लम्बे वाक्यों के बीच में एक सरल छोटा वाक्य आकर भाषा की जड़ता समाप्त कर उसे सहज और सजीव बना देता है । सटीक अभिव्यक्ति और ध्वनि उत्पन्न करने वाले शब्दों का इस्तेमाल किया गया है । टिटकारी, लहालोट, नोक-झोंक, भड़भड़ाकर उठना, फफक-फफककर आदि के अतिरिक्त ध्वनि सम्बन्धी लोक शब्दावली का बहुत सुन्दर प्रयोग हुआ है - घंटे की टन-टनाहट, गले की खड़खड़ाहट, जलती हुई लकड़ियों की चट-चट आदि । अनेक लोक-प्रचलित लोकोक्तियों एवं मुहावरों का भी सप्रसंग प्रयोग किया गया है । जैसे - मुँह ताकना, मीठी छुरी चलाना, सूखी डाल में कोपलें फूटना, बासी घाव हरा होना, जितने मुख उतनी बातें, दिन दहाड़े लूटना, खूँटा तोड़ाना, बुद्धि पर ताला लगना, दांत पीस लेना, संसार नष्ट होना, रमता राम बनना, तिल-तिल जलना, बाट जोहना, पछाड़ खाकर गिरना, गांठ बाँधना, छठी का दूध याद आना, जनम की अभागिन करम की छँछी, नस-नस पहिचानना, करेजे

में आरी चलना आदि ।

उपर्युक्त शब्दों, मुहावरों के द्वारा उपन्यास की भाषा रोचक और सारगर्भित होने के साथ तत्कालीन लोक वातावरण की अनुरूपता प्रदर्शित करते हुए लौकिकता के साथ-साथ प्रयोगधर्मिता की भी सूचक है । तत्कालीन वातावरण के अनुकूल संस्कृत के उद्धरण भी दिये गये है । जैसे - तमसो मां ज्योतिर्गमय, बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय, सख्यते चिन्मय शिव:, तरुणार्करागम्, आदाय दक्षिण करेण । विच्छितिकोषै: सुरसुन्दरीणां आदि संदर्भ प्रयुक्त हुए है । हिन्दी की उन उक्तियों का भी प्रयोग किया गया है जो प्राय: लोक में प्रचलित है - नासा मोरि नचाइ दृग, वयसु वरणु तनु एक, दोउ बानक बने, मनई कलानिधि झलमल कालिन्दी के नीर, मनहु सुरसरिता विमल जल, उरझत जुग मीन, जल चादर के द्वीप ज्यों झलमलाति तन ज्योति, अब लों नसानी अब न नसैहों आदि । इनके द्वारा रूप वर्णन एवं चरित्र को स्वाभाविक ढंग से उजागर करने में बड़ी सहायता मिली है । इसके अतिरिक्त विदेशी भाषाओं के वे शब्द जो लोक में काफी घुल-मिल गए है उनका भी प्रयोग पुनर्नवा में हुआ है । मैना के लिए चन्द्रा "वकील" शब्द का प्रयोग करती है ।[1] ऐसे कई उदाहरण उपन्यास में विद्यमान है ।

इन प्रयोगों के द्वारा लोकतात्विक भाषा संस्कार के जो रूप प्राप्त होते है वे सीधे और विशुद्ध रूप से लोकोक्तियों एवं लोक-प्रचलित सामान्य कथनों से गृहीत है । लोकभाषा के साथ लौकिक मौज-मस्ती, बेलौसपन, फक्कड़ी स्वभाव, भावुकता, तर्कशीलता रसिकता, अक्खडता अंधविश्वास, चलन, पर्वोत्सवों से सम्बन्धित शब्द और वाक्य लोकपन के अनेकानेक परम्परागत रूपों को व्यक्त करते है । लोक के यथार्थ की अभिव्यक्ति के लिए उपन्यासकार को लोकजीवन के उपादान एकत्रित करने पड़ते है । ये तत्व और उपादान लोकजनों के गतिशील

---

1. पुनर्नवा - पृ. - 176.

तथा व्यवहारिक जीवन की घटनाओं से सम्बन्धित होते है । इनका सम्बन्ध बोली बानी से होता है । बिना लोक भाषा शब्द, लोकोक्ति, वाक्य, गीत आदि के इन्हें अभिव्यक्त ही नहीं किया जा सकता । पुनर्नवा में ऐसे प्रयोग वस्तुत: लोकतात्विक चेतना से भरपूर है और वे आधुनिक प्रचलित भाषा के ध्वनि प्रतीकों के बहुविध रूपों में प्रकट होकर परम्परागत लोक सांस्कृतिक स्वत्व को गतिमान किए रहते है । भाषा के ऐसे प्रयोगों में धार्मिक आचारों और आस्थाओं से सम्बन्धित प्रयोग लोक-मनोविज्ञान, लोक-धर्म और लोक-व्यवहार से सीधे जुड़े है । पुनर्नवा की स्त्री पात्र तो लोकधर्म की रक्षिका ही है । उनके विविध आस्थामूलक व्यवहारों से परम्परागत पालन के आग्रह का पता लगता है । पुनर्नवा में नारी पात्रों के वचन गीत और शब्द प्रयोग उनकी लोक चेतना के वास्तविक प्रतीक है ।

लोकजीवन में प्राय: शब्दों के लोकीकरण एवं तद्भवीकरण की प्रवृति होती है । "पुनर्नवा में शब्दों के तद्भव रूप पर्याप्त परिणाम मे प्रयुक्त है । भुक्खड़, वैरागी, कठकरेजी, बेटा, बेटी, सिखावन, निकम्मा आदि अनेक तद्भव शब्द पुनर्नवा में प्रयुक्त हुए है ।" [1] इस तद्भवीकरण में संदर्भ सापेक्षता है । "अपनी ओर से वर्णन में, कथन की भंगिमा में तद्भवता का जो स्पर्श द्विवेदी जी विकसित करते है, वह कम महत्वपूर्ण नहीं है । ••• इस प्रकार के प्रयोगों में जो तद्भवता रची गयी है वह भाषा के स्तर पर ही कुछ नया नहीं जोड़ती, कथा संवेदना की बनावट में इतिहास और वर्तमा संस्कृति और लोक के साहचर्य में एक नया रचनात्मक तनाव लाकर उपन्यास के अभीष्ठ प्रभाव की ओर उन्मुख करती है ।" [2]

इसके अतिरिक्त लोकजीवन में सम्बन्ध सूचक शब्दों - काका, दादा, मामा, भाभी, लल्ला, चेला, भैया, दादी, नाना जैसे सम्बन्ध सूचक शब्दों का भी प्रयोग हुआ है । साथ ही साथ लोक के कुछ चटकीले शब्दों का भी प्रयोग

1• डॉ0 उमा मिश्रा - डॉ0 ह0प्र0 द्विवेदी का उपन्यास साहित्य - एक अनुशीलन, पृ•-275.

2• सं0 डॉ0 विश्वनाश तिवारी - हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ• 175.

बड़े स्वाभाविक ढंग से हुआ है । जैसे -जगर-मगर, झोंटा-हक, पहलवान, दुध-मुंहा, भुकखड़, कलछुल, कठकरेजी, अँगिया, दरकना आदि । पुनर्नवा में ये सभी शब्द पात्रों की स्थिति का सही चित्रण करने के लिए हुआ है ।

कहने की आवश्यकता नहीं कि पुनर्नवा की भाषा की गरिमा लौकिक गरिमा से सम्पन्न है । आचार्य द्विवेदी की पाण्डित्य धर्मिता यहाँ कौतुक रस की सृष्टि करती है । लौकिकता साधनशील कल्पना को गति देती है । पुनर्नवा की लौकिक भाषा उपन्यास को लय में बदलती है, बोझ नहीं बनती । इस उपन्यास के भाषा की अलंकृति लोकधर्म में जीवित हो उठती है । लोकधर्मिता उसका स्वभाव है । आचार्य द्विवेदी के प्रिय मुहावरे का लाभ उठाकर कह सकते है कि पुनर्नवा की भाषा का अपना एक छन्द है । इसी छन्द के कसाव में शब्द प्राय: अपने स्थान पर अचूक सुनिश्चित ध्वनि देते है । साथ ही साथ ये प्रयोग हिन्दी के लोकरूपों को स्पष्ट करते है । यद्यपि इन रूपों में व्याकरण सम्बन्धी त्रुटियां, भ्रष्ट शब्द प्रयोग की असाधुता और भाषा प्रवृत्तियों के अनमोल मिश्रण से विकृतियां दिखाई पड़ती है । तथापि बोलचाल के स्तर पर ऐसा सदा से होता रहा है । पुनर्नवा के ग्रामीण पात्रों के मुख से ऐसे भाषा प्रयोग स्वाभाविक लगते है । लोकजन स्थानीय बोल-चाल के साथ हिन्दी खड़ी बोली के सामंजस्य तथा समन्वय का जैसा प्रयत्न करते है ; पुनर्नवा के पात्र उसी का सफल प्रतिनिधित्व करते दिखाई देते है ।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि आचार्य द्विवेदी ने लोक वातावरण के निर्माण हेतु, लोकसांस्कृतिक परिवेश को जीवन्त बनाने हेतु यथेष्ठ भाषा का उपयोग किया है । वे इस बात के प्रति पूरी तरह सचेत है कि उपन्यास की भाषा कदापि बोझिल न होने पाये । किन्तु ऐसा पूर्णतया संभव नहीं हो सका है । पुनर्नवा की भाषा कहीं-कहीं तो इतनी गंभीर हो जाती है कि साधारण पढ़े लिखे लोगों की समझ से बाहर की बात है । दूसरी ओर

लोकजीवन में प्रयुक्त होने वाले कुछ ऐसे शब्द है जो सभी की समझ से बाहर की चीज है । फिर भी उसमें तमाम लौकिक प्रवृत्तियों का पुट होने के नाते भाषा लौकिक गुणों से सम्पन्न होकर प्रवाहमयी हो गयी है ।

लोक गायक या कथककण अपनी रचनाओं की प्रस्तुति में खण्ड दृश्यों के एकीकरण द्वारा समग्रता का आभास कराते है । पुनर्नवा की शैली भी वर्णनात्मक है और भावात्मक दृष्टि से विभिन्न खण्ड चित्रों की रचना के द्वारा एक पूर्ण विषय वस्तु की अनुभूति कराने की कला उनमें सर्वत्र दिखाई देती है । लोक-गाथाओं लोकगीतों के द्वारा खण्ड चित्र, खण्ड कथानक, खण्ड भाव-धारा प्रवाहित होती रहती है । अलग-अलग दृश्य चित्रों, भावों, कथ्यों और वर्णनों द्वारा एक पूर्ण भाव या वर्णन की निष्पत्ति अपने आप हो जाती है । पुनर्नवा में लोकरचना की यही शैली उसको एक विशिष्ठ और मौलिक धरातल पर रूपायित करती है । इसकी शैली पात्र परिस्थिति और प्रसंग के अनुरूप है ।

देवरात और मंजुला कवि है । वे राज-दरबार में कविता-पाठ करते है । अत: श्रृंगारिक रचना सुनाना आवश्यक ही है । शर्मिष्ठा के वियोग में व्याकुल देवरात मंजुला में अपनी स्वर्गीया पत्नी की प्रतिच्छवि देखते है । उसे देखकर उनकी सोई पड़ी वेदना का उमड़ना स्वाभाविक ही है । कुछ प्रति-द्वन्द्विता के भाव से, कुछ देवरात को प्रत्यग्रा मनोहर सुनने की इच्छा को पूरा करने के उद्देश्य से मंजुला जिस ग्राम्य भाषा के बिरहा को चुना तथा जिस करूण मधुर स्वर से भाव विह्वल मुद्रा में कविता पढ़ी, वह परिस्थिति एवं प्रसंग के सर्वथा अनुकूल है ।

मृच्छकटिक के श्लोकों का गद्यानुवाद शराबी-जुवारी के मुख से कहवा कर आचार्य द्विवेदी ने विलक्षण लोक रूचि का परिचय दिया है । प्राय: लोकजीवन में देखा जाता है कि व्यसनी लोग अपने पक्ष में कही कवियों, समाज सुधारकों या महान लोगों की कही उक्तियों को रट लेते है और समयानुसार उसका उपयोग करने में चूकते नहीं । चन्द्रमौलि का मेघदूत का श्लोक बोलना भी

अप्रत्याशित नहीं लगता । क्योंकि उसकी स्थिति अपनी प्रेमिका के वियोग में यक्ष के समान हो गयी है, साथ ही जिस आर्यक को वह श्लोक सुनाता है वह भी मृणाल के वियोग में दुखी है । अतः इन सभी दृष्टियों से श्लोक का उपयोग उचित ही है ।

लोकजीवन को यथार्थ ढंग से प्रस्तुत करने हेतु यथार्थवादी शैली आवश्यक है । "शैली और कथानक जब तक एक-दूसरे के अनुकूल नहीं होंगे । तब तक कभी भी यथार्थवादी शैली का पूर्ण निर्वाह नहीं हो सकता ।" [1] पुनर्नवा में शैली और कथानक दोनों का समन्वय हुआ है । इसके लिए आवश्यक रूप से यथार्थवादी शैली का पूर्णरूपेण निर्वाह हुआ है । गोवर्धन-पूजा के अवसर पर मृणाल की सखी द्वारा, चन्द्रा के मृणाल के पास पहुँचने पर ग्रामीण स्त्रियों द्वारा आभीर युवतियों द्वारा गाये गये गीतों का विवरण देकर लोकजीवन का यथार्थ परिवेश प्रस्तुत किया गया है जो आज भी थोड़ा-बहुत परिवर्तन के साथ लोक में विद्यमान है । धृता के अन्नपूर्णा रूप को देख आर्यक का देवरात द्वारा सिखाया अन्नपूर्णा के ध्यान का मन्त्र याद आना लोकसम्मत है जिसमें भगवती अन्नपूर्णा की स्तुति की जाती है ।

इन सभी कारणों से पुनर्नवा की शैली अधिकांश स्थलों पर वर्णनात्मक और विवेचनात्मक है । विश्लेषण लोकजीवन के विवेचन का ही अंग बनकर आया है । मनोविश्लेषण के स्थल भी कम नहीं है । यही कारण है कि पाठक उसे जगह-जगह अनुभव करता है । उपन्यास के छठें परिच्छेद में मंजुला की धरोहर लाल चीनांशुक में लिपटी प्रतोलिका को खोलकर उसमें रखे पत्र और स्नेहोपहार देखने पर देवरात के भावावेग को पढ़कर पाठक का हृदय हिल जाता है । यहाँ आचार्य द्विवेदी की मनोविश्लेषण की शक्ति एवं उसे व्यक्त करने की शैली पर आश्चर्य होता है कि लोकमन को समझने एवं उसे व्यक्त करने की कितनी दिव्य शैली उनके पास थी ।

---

1. डॉ० त्रिभुवन सिंह - हिन्दी उपन्यास शिल्प और प्रयोग, पृ० - 265.

पुनर्नवा की लोकचित्र प्रस्तुत करने वाली शैली का पता उन स्थलों पर लगता है जहाँ पाठक स्वयं को उस स्थल पर उपस्थित महसूस करता है। नृत्य, संगीत-सभा का वर्णन पढ़कर लोक के सामन्ती ठाठ-बाट का चित्र सामने उपस्थित हो जाता है। शार्दूलक-मांगू के मल्ल युद्ध का विवरण पढ़कर ऐसा लगता है कि हम अखाड़े में खड़े कुश्ती देख रहे है - "यह देखकर आश्चर्य हुआ कि मांगू उसे कसकर पकड़ नहीं पा रहा है। ... दोनों ही मल्ल पसीने से तर हो गये। कोई एक घड़ी की विकट भिड़न्त के बाद लोगों ने आश्चर्य के साथ देखा कि मांगू चित्त हो गया है और शार्दूलक उसकी छाती पर सवार है।"[1] माढ़व्य शर्मा की बातों को पढ़कर हँसते-हँसते पेट में बल पड़ जाते है तो आर्यक-मृणाल के मिलने के समय उनकी ठिठोली, चुहल और परिहास भरी बातें हमें लोकजीवन के ग्राहस्थ रस से सराबोर कर देती है। यह सब आचार्य द्विवेदी की लोकरंजिनी शैली के नाते ही है। वस्तुत: पुनर्नवा में न केवल विविध लोक-प्रसंगों एवं वातावरणों का निर्माण किया गया है अपितु उनके चित्रण में भी शब्दों, भाषा एवं शैली का ऐसा जादू कर दिया गया है।

पुनर्नवा की भाषा को वर्णनात्मकता के माध्यम से अत्यन्त प्रवाह-मान बना दिया गया है। चूँकि पुनर्नवा का परिवेश मुख्यत: भोजपुरी प्रदेश है। हम देखते है कि भोजपुरी खड़ी बोली हिन्दी को बिलम्बित उच्चारण (रेघाकर) बोलते है। इससे उनके स्वर में गेयता आ जाती है। पुनर्नवा में भी गेयता के पर्याप्त तत्व हम देखते है। एक तरह से पूरे उपन्यास की शैली ही वर्णनात्मक होने के साथ-साथ काव्यात्मक भी है। लोकगाथाओं में हम यह प्राय: देखते है कि उनकी शैली वर्णनात्मक होती है। "उनके वर्णन में नायक नायिकाओं का सांगोपांग जीवन रहता है। इसलिए वे द्रुतगति से तथा अत्यन्त विस्तार के साथ घटनाओं का वर्णन करते है।"[2] पुनर्नवा में भी लोकजीवन में घटने वाली

---

1. पुनर्नवा - पृ. - 71.
2. डॉ0 सत्यव्रत सिनहा - भोजपुरी लोकगाथा, पृ. - 218.

प्राय: सभी घटनाओं का प्रवाहमय वर्णन किया गया है । इस प्रवाह में कथानक के अनुसार परिस्थितिवश स्वर व्यंज्जना में भी हम परिवर्तन पाते है । उपन्यास के किसी चरित्र को यदि दुख मिल रहा है तो ऐसी भाषा-शैली में उसका वर्णन है कि पाठक का मन करूणा से भर उठता है ।

आचार्य द्विवेदी ने लोकगाथाओं से प्रेरणा ग्रहण कर नृत्य, संगीत, चित्रकला के उत्तम वर्णनों से पुनर्नवा को प्रतिभामण्डित किया है । रूप-छवि वर्णनों को एक आधन्तहीन प्रभावशीलता प्रदान करते है । मंजुला की रूप-छवि एवं प्रकृति के लौकिक परिवेश का वर्णन कर अभिराम वर्णनात्मक शैली का आभास कराया गया है । "शैली की गरिमा पुनर्नवा की भाषा में दिखाई देती है । उनकी शैली की सबसे बड़ी सफलता यह है कि लेखक ने दुरूह दार्शनिक कथ्य को भी इस तरह प्रस्तुत किया है कि पाठक कहानी पढ़ने के लिए विवश हो जाता है ।" ।

चन्द्रा की प्रेमातुर मन:स्थिति, चन्द्रमौलि की विरहदग्ध मनोव्यथा देवरात का अन्तर्द्वन्द्व सभी का चित्रण लोकजीवन की अनुकूल भाषा शैली में हुआ है । आर्यक-मृणाल की चुहल भरी बातें नवोदित प्रेम की परिचायक है । शार्विलक मांदी का वार्तालाप वचनबद्ध अबला त्राण में लगे वीर एवं प्रेमिका के बीच होने वाली बात-चीत के सर्वथा अनुरूप है । "जिन्हेंन व्यापै जगत गति" की लोकोक्ति को माढ़व्य शर्मा चरितार्थ करते है । कहने का तात्पर्य यह कि पुनर्नवा की शैली कथानक के अनुरूप लोकतत्वों से परिपूर्ण है । देशकाल एवं वातावरण के अनुरूप, जड़ शास्त्रीयता के विरोध में लौकिक आग्रह की पक्षधरता की हिमायती है ।

।• डॉ0 उमा मिश्रा - डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी का उपन्यास - साहित्य - एक अनुशीलन, पृ• - 279.

उपसंहार

पुनर्नवा के समग्र मूल्यांकन के पश्चात् हम कह सकते है कि शीर्षक से लेकर उद्देश्य तक उपन्यास के समग्र अंग लोकतत्वों से अनुप्राणित है । आचार्य द्विवेदी के प्रिय शिष्य केदारनाथ सिंह पुनर्नवा शीर्षक की चर्चा बड़े विभोर होकर करते है । "पुनर्नवा का तात्पर्य पूछने पर द्विवेदी जी ने पुनर्नवा को "गदहपुन्ना" घास बताया था जिसको लोकजीवन में सभी लोग इसलिए जानते है कि कई रोगों में वह दवा के काम आती है ।" [illegible] इससे स्पष्ट होता है कि "पुनर्नवा" शीर्षक में भी लोकतत्व विशेष ढंग से प्रतिफलित हुआ है । सामाजिक चलन, रीति-रिवाज, लोक की गतिविधियों तथा उसके प्रभावों से उत्सर्जित और प्रभावित होता है । देशकाल के अनुरूप समाज की सड़ी गली परंपराओं, रूढ़ियों को तोड़कर समाज में नयी गतिशील, और प्राणमयी चेतना का संचार करने का संदेश पुनर्नवा में निहित है । "नामकरण में पुन: नवीन होने का भाव व्यंजित है । लेखक की विशद ज्ञान परंपरा, काव्य साहित्य की अनुभूति, प्राकृत, संस्कृत अपभ्रंस का गहन अध्ययन और निजी जीवन का व्यापक अनुभव "पुनर्नवा" के माध्यम से पुन: नवीन, फिर से नया हो गया है ।"[1]

पुनर्नवा एक नया शिल्प लेकर उपन्यास जगत में आया है । हिन्दी उपन्यास जगत में पुनर्नवा नाम से यह श्रेय कान्ति बहुत दिनों के बाद दिखाई दी । इसकी कल्पना विराट है, दृष्टि लौकिक है । पुनर्नवा मानव की लघुता, संकल्प-हीनता और विवशता की कहानी न होकर वह लोकजीवन की विराट संभाव-

---

1. हिन्दी अकादमी दिल्ली - संगोष्ठी संकलन आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. - 25.

नाओं की कहानी है । लोक चरित्रों के माध्यम से अनेक रूढ़ सामाजिक मान्यताओं पर प्रहार किया गया है । लोक का विद्रोह ही इस उपन्यास का मूल स्वर है । इसमें चौथी शताब्दी के प्रचण्ड, प्रबल गुप्त साम्राज्य के लोक-जीवन का बड़ा सजीव चित्र है । जिसमें स्वाभाविक एवं स्वच्छन्द मानवों की लौकिक विशेषताओं में अन्तर्मुक्त परंपरागत लोकवार्तातत्वों का सहज प्रसार दिखलाई पड़ता है । पुनर्नवा की औपन्यासिकता लौकिक यथार्थ के उद्घाटन, विचित्र लोकपरम्पराओं के प्रदर्शक की दृष्टि से तो अर्थ पूर्ण है ही, उसमें जुझारू चरित्रों और कथाभूमि की प्राणवन्त लोकसांस्कृतिक धारा का रचनात्मक वैचित्र्य एवं वैविध्य भी है ।

पुनर्नवा का उद्देश्य लोक के परम्परागत जीवन तथा उसके बदलते आधुनिक मूल्यों के संदर्भ में चित्रण करना है । लेकिन उपन्यास में कथानक और चरित्र का भी विशेष महत्व होता है । अत: उसके चित्रण का आधार लौकिक चरित्र और लौकिक कथावार्ता को औपन्यासिक ढंग प्रदान करना है । इस संदर्भ में यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि लौकिकता - लोकवार्ता तत्वों और लोक की सांस्कृतिक जीवन चर्या के यथातथ्यपरक वर्णनों के मिले-जुले रूप से निर्मित होती है । पुनर्नवा की मूल शक्ति लोकवार्ता ही है । यह लोकवार्ता परम्परागत एवं समसामयिक जीवन की भी है । इसलिए इसमें लौकिकता की सिद्धि लोक के परम्परागत सांस्कृतिक जीवन विधान और वर्तमान सामाजिक संगठन के भीतर से क्रियाशील लोक प्रवृति के विभिन्न रूपों में साकार होती है । वस्तुत: पुनर्नवा में लोक सांस्कृतिक जीवनधारा का ही चित्रण है जिसका उद्देश्य भी लोकजीवन के भूत और वर्तमान को यथार्थवादी ढंग से चित्रित करना है ।"

पुनर्नवा का अध्ययन करने पर ऐसा महसूस होता है कि जिस लोक का चित्रण इस उपन्यास में किया गया है, आचार्य द्विवेदी ने उस लोक जीवन को बड़े ही निकट से विस्तार पूर्वक जाना है, परखा है, तथा उनकी वृत्ति, प्रकृति एवं चेतना को ; उनके बीच से उभरने वाले पात्रों और घटनाओं के माध्यम से

संयोजित कर उपन्यास का कलेवर निश्चित किया है । क्योंकि बिना लोकवार्ता तत्वों की व्यापक जानकारी के लोकपट का सही-सही उद्घाटन किया ही नहीं जा सकता । सुनी-सुनाई बातों, पढ़ी-पढ़ाई सूचनाओं के आधार पर अंचल के लोकरस का न तो सही आस्वाद लिया जा सकता है और तो उपन्यास के स्तर पर उसके मार्मिक पक्ष का उद्घाटन ही किया जा सकता है । पुनर्नवा को पढ़ने पर बिना यह जाने ही कि आचार्य द्विवेदी उसी मिट्टी में जनम लेकर पले, बढ़े, और बड़े आदमी बने ; हमें ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने उन स्थानों को बड़े निकट से देखा है जिसका वर्णन पुनर्नवा में मिलता है । उस विशेष लोकजीवन की सूक्ष्मता से पहचान और परख करके अपनी तूलिका से लोक-रँग भरकर उन्होंने ऐसा वर्णन किया है कि उन स्थानों की मिट्टी बोल उठी है । वहाँ का लोकजीवन मुखर हो गया है । एक व्यापक अनुभूति और संवेदना के बल पर आचार्य द्विवेदी ने पुनर्नवा की कथा को जो लौकिकता प्रदान की है उससे पूरा पाठक समाज रसविभोर हो जाता है ।

जहाँ तक उद्देश्य का सवाल है तो पुनर्नवा के कई उद्देश्य है । उसका यह संदेह है कि - "अगर निरन्तर व्यवस्थाओं का संस्कार और परिमार्जन नहीं होता रहेगा तो एक दिन व्यवस्थाएं तो टूटेंगी ही अपने साथ धर्म को भी तोड़ देंगी ।" [1] बड़े-बड़े मनीषियों और साहित्यकारों के विचार, "पुरातनता का यह निर्मोक सहन करती न प्रकृति पल एक, नित्यनूतनता का आनन्द किये है परिवर्तन में टेक," एक समय जो ग्राह्य दूसरे समय त्याज्य होता है ।" और सील सी लोकालय में रूढ़ि बैठ जाती है ।" आदि तथ्यों का समर्थन करते है । लोक-जीवन में फैली हुई कुरीतियों और परम्परागत अंधविश्वासों तथा भ्रष्टाचारों को दूर करके नवीन गति का संचार किया गया है । चली आती हुई वंशवाद की परम्परा के अनुसार राजवंश का उत्तराधिकारी ही राज्य का अधिकारी नहीं अपितु एक साधारण व्यक्ति भी अपनी योग्यता, पौरूष, वीरता और गौरवपूर्ण व्यक्तित्व के द्वारा शासन करने का अधिकार रखता है । इस संदेश को

---

1. पुनर्नवा - पृ. -

चरितार्थ करने के लिए महावीर आर्यक और श्यामरूप ने राजनीतिक विद्रोह करके अत्याचारी एवं दुराचारी शासक पालक को समाप्त करते है ।

सामान्यतया लोकजीवन में गणिका घृणा की पात्र होती है । भारतीय सामाजिक व्यवस्था में ही यह खोट है कि यहाँ स्त्रियों को शोषित होना पड़ता है । पुनर्नवा में इसके विपरीत नारी के दलिता और गणिकारूप में जीवन यापन करने वाली नारी में एक ऊँचे आदर्श की स्थापना की गयी है । उपन्यासकार ने इस दृष्टि से मंजुला, मृणाल, बसंत सेना आदि स्त्री पात्रों को लौकिक स्वरूप में गढ़कर अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं गौरवमय स्थान दिया गया है ।

पुनर्नवा लोकजीवन की गाथा ही नहीं साहित्य के धरातल पर एक कलात्मक प्रयास भी है । ऐसा तो नहीं है कि पुनर्नवा से पूर्व लोकजीवन से सम्बन्ध रखने वाली बातों पर आधारित उपन्यास लिखे ही नहीं गये । हाँ इतना अवश्य है कि इसके पहले के उपन्यासों में समस्याओं के उहापोह में लोक संस्कृति के भव्यरूप से उतना नहीं देखा जा सका है जितना पुनर्नवा में । पुनर्नवा में वर्णित जीवन समस्याओं का जीवन होने पर भी भारतीय लोक संस्कृति की अखण्ड चेतना का उत्स है । यद्यपि आज का लोकजीवन अनेक प्रकार की जटिलताओं का केन्द्र बन चुका है फिर भी आज भी वह संस्कृति का केन्द्र है । उसी केन्द्र में भारत की असली संस्कृतियों का उद्भव और विकास भी होता है ।

पुनर्नवा के माध्यम से आचार्य द्विवेदी हमारे सामने अपने ही लोक का ऐसा चिट्ठा खोलते हैं जिससे हम अनभिज्ञ ही नहीं दूर भी हो गये है । लोकजीवन आज भी अपनी लोकतात्विक परम्परा में जी रहा है । किसी न किसी प्रकार वह नयी से नई प्रवृत्तियों को ग्रहण करने की आकांक्षा से भरा हुआ है । पुनर्नवा बड़े ही यथार्थवादी ढंग से लोक में होने वाले तमाम परिवर्तनों का अत्यन्त सजग व तटस्थ दर्शक बनकर हमें उन समस्याओं से परिचित कराता है जो लोक की परम्परागत जीवनधारा एवं प्रगतिशील आकांशा के बीच संघर्षों से उत्पन्न हुई हैं । पुनर्नवा में यह स्वीकार किया गया है कि लोक की चेतना

कभी भी आधुनिक प्रगति में बाधा नहीं उत्पन्न करती । यह भी स्वीकार किया गया है कि लोकसंस्कृति ही भारतीय संस्कृति है और लोकजीवन ही असली भारतीय जीवन है । वर्तमान काल की समस्यायें उसकी सांस्कृतिक चेतना को विगलित नहीं कर सकतीं ।

लोकजीवन अपने संस्कारों के कारण ही अपनी अस्मिता बनाए रखने में सफल रहता है । भले ही परम्परागत जीवन के अन्य सम्बन्ध क्यों न विशृंखलित हों, उसके विघटनकारी तत्व उसे क्यों न विपत्तिगामी बना दें । किन्तु उसकी लोकसांस्कृतिक चेतना को वे विमूर्छित नहीं कर सकते । पुनर्नवा में लोक संस्कृति के कतिपय शाश्वत मूल्यों की पुर्नस्थापना हुई है । महत्वपूर्ण बात तो यह है कि यह स्थापना परिवर्तन के दौड़ में टूटते सामाजिक मूल्यों के बीच हुई है । उसके नैतिक चरित्र, उन चरित्रों के आदर्श लोक संस्कृति के नैतिक मूल्यों की रक्षा करते है । साथ ही साथ लोकनिहित जीवन विधान के भीतर से आलोकित तथा लोकसांस्कृतिक प्रभा से दीप्त पात्र लोक के मूल्यादर्शों का प्रतिनिधित्व करते है । इनकी भाषा में भी लोकभाषा का पुट है जिससे लोकजीवन और भी यथार्थ रूप में उभरकर सामने आता है । ग्रामीण पात्र जिस दुरंगी भाषा का प्रयोग करते है वह अत्यन्त स्वाभाविक है । यह बात अलग है कि खड़ी बोली के अद्येता के सामने यह एक संकट है किन्तु ऐसा संकट नहीं जिसका निवारण न हो सके ।

वास्तव में लोक संस्कृति के तत्व प्रयोग के धरातल पर अपनी परम्परागत शैली में चाहे कितने ही रूढ़ और गतानुगतिक क्यों न हों किन्तु समग्र भारतीय संस्कृति के संदर्भ में वे मानवीय आदर्शों के ज्योतिपुंज है । ऐसी प्रथाएं और रीतियां जो आज के जीवन में अर्थपूर्ण नहीं समझी जाती है, किसी प्रकार भी त्याज्य नहीं है । क्योंकि वे किसी न किसी रूप में भारतीय सांस्कृतिक सत्व से विलग नहीं है । परम्परागत मूल्यों के ह्रास के बीच संस्कृति के ये तत्व नया बल प्रदान करते है । कलवित होती हुई मानवता को सावधान करते है ।

आचार्य द्विवेदी ने इन लोकसांस्कृतिक मूल्यों के द्वारा पुनर्नवा में एक शाश्वत भारतीय आदर्श की स्थापना की है। वह भी निरक्षर दलित और असभ्य चरित्रों के माध्यम् से। सिद्ध बाबा प्रकरण में काका का संदेह हमें इस बात की ओर इशारा करता है कि शोषण के परम्परागत तत्व सांस्कृतिक परम्पराओं की दुहाई देकर लोगों को ठगते है। उनसे सतर्क रहने की आवश्यकता है।

पुनर्नवा में पात्र, वातावरण और परिवेश के साथ ही लोक की रंग सज्जा का पूरा ध्यान रखा गया है। इसलिए उसकी कथावस्तु,पात्रगत चरित्र और उद्देश्य नितांत लौकिक होने के नाते लोकजीवन एवं उसकी चेतना का व्यापक प्रतिनिधित्व करते है। फलस्वरूप उसमें लोक सांस्कृतिक सत्ता, परम्परा-गत जीवन विधि का आयोजन दिखाई देता है। लोकजीवन के वर्तमान और भूतकाल को उजागर करने वाली ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, सामाजिक और राज-नीतिक पीठिका पर लोकवार्ता तत्वों से वेष्ठित उसकी सम्पूर्ण गतिविधियाँ और रंग कोटियां उपन्यास के सभी तत्वों पर छायी हुई है।

इसकी प्रामाणिकता हम आयुर्वेद में भी देखते है। आयुर्वेद में बताया गया है कि पुनर्नवा नाम की वनस्पति जर्जर रोगी को भी नया जीवन प्रदान करती है। "पुनर्नवा" में इसे गाढ़ वेदना को पुनर्जीवन प्रदान करने वाली शक्ति कहा गया है। मंजुला अपना बिरहा पढ़कर ही देवरात को शर्मिष्ठा का स्मरण कराती है। उनकी वेदना जगाती है।यह वेदना ही देवरात का पुर्न-संस्कार करती है। क्योंकि बासी को ताजा करने वाली यह गाढ़ वेदना जिसका स्पर्श करती है उसे ही ताजा करने अनुप्राणित करने और नया आदमी बना देने को क्षमता रखती है। आगे भी देवरात को भाव रूप में दर्शन देकर नयी स्फुर्ति, नयी जीवन, शक्ति प्रदान करती है। मंजुला की यही लौकिक वेदना पूरे उपन्यास में छायी हुई है। यही प्रतिपाद्य पूरे उपन्यास पर छाया हुआ है।

यह उपन्यास लोकजीवन के उन ज्वलंत प्रश्नों को उठाता है जो सार्वदेशिक और सर्वकालिक है। व्यक्ति और व्यवस्था के बीच संघर्ष का इतिहास बहुत पुराना है। व्यवस्था के पक्षधर बनी-बनाई व्यवस्था से हटकर चलना नहीं चाहते जबकि नयी पीढ़ी उन जर्जर और समाज-विरोधी व्यवस्थाओं को उखाड़ फेंकना चाहती है। क्योंकि वे व्यवस्थाएं विकास में गतिरोध उत्पन्न करती है। ऐसी स्थिति में पहले विरोध होता है। यही विरोध क्रान्ति का स्वरूप ग्रहण कर लेता है। "लोकमानस में शुष्क धर्माचार और रूढ़ मान्यताओं के प्रति यह भाव लोक का विद्रोह किसी दिन वस्तु जगत के विद्रोह का रूप ले सकता है।"[1]

प्रतिपाद्य को हृदयंगम कराने के लिए लेखक ने कथा-रस को लौकिक धरातल प्रदान करते हुए कथा प्रसंगों, पात्रों एवं उनके वक्तव्यों की भी लौकिक योजना की है। पुनर्नवा के अधिकांश पात्र लोकजीवन की रूढ़ियों के शिकार है। वे उसका एकाएक विरोध भी नहीं कर पाते। आर्य देवरात अपनी विमाता का विरोध न कर पाने के कारण अपनी प्रिय पत्नी शर्मिष्ठा को खोकर जीवन से विरक्त हो जाते है। हलद्वीप में मंजुला में शर्मिष्ठा की प्रतिमूर्ति पाकर भी वे उसे स्वीकार नहीं कर पाते। क्योंकि इसके पीछे रूढ़िगत व्यवस्था और लोकापवाद सक्रिय है। गोपाल आर्यक और चन्द्रा-प्रसंग द्वारा व्यवस्था का जो प्रश्न उठाया गया है वह आज भी लोकजीवन के संदर्भ में बहुत महत्वपूर्ण है। वृद्ध गोप मृणाल को अपनी बहू बनाने में संकोच करते है क्योंकि वह गणिका पुत्री है। उसे इतनी आसानी से उनके परिजनों द्वारा स्वीकार नहीं किया जाएगा। यद्यपि श्यामरूप की रूचि विद्याध्यन में न होकर मल्ल विद्या में है किन्तु ब्राहमण पुत्र होने के नाते उसे शास्त्र-विद्या प्रदान करने की ही कोशिश की जाती है।

---

1. पुनर्नवा - पृ. - 158.

आचार्य देवरात, सुमेर काका, आचार्य पुरगोभिल, चन्द्रमौलि आदि अलग-अलग, अपने-अपने ढंग से लोकजीवन की सिद्धि में सहायक हुए है। इन पात्रों से सम्बन्धित समस्त घटनाएं समकालीन लोकजीवन में भी दिखाई देती है। आर्य देवरात की उदार, आदर्शवादी भूमिका एकदम व्यवहारिक है। उनकी प्रगतिशील चेतना से युक्त वाणी मंजुला की दिन चर्या ही बदल देती है। उसकी हीनता और अपराध की ग्रन्थि समाप्त हो जाती है। जब वह देवरात से यह सुनती है कि - "तुम जिस पाप जीवन की बात कह रही हो वह मनुष्य की बनाई हुई सामाजिक व्यवस्था की देन है ... लोग क्या कहते हैं, इसकी चिन्ता छोड़ो।"[1] आर्य देवरात का यह कथन मात्र मंजुला के लिए ही नहीं समस्त लोकजीवन की प्रगतिशील मानवता के लिए शाश्वत संदेश है।

सुमेर काका लहुरावीर दल का समर्थन करते है। उनका यह समर्थन अन्याय और अत्याचार के विरोध में लौकिक सत्य और न्याय का ही समर्थन है। इसी प्रकार सत्य को जान लेने पर वह जब लोकापवाद की धुंध पार कर चन्द्रा का समर्थन करते है तो पुरन्दर और आचार्य पुरगोभिल से भी दो-दो हाथ करने को तैयार हो जाते है। सम्राट से भी उलझ पड़ते है। इससे यह स्पष्ट होता है कि आचार्य द्विवेदी एक ग्रामीण पात्र के द्वारा उन लौकिक मर्यादाओं को ठोकर लगवाना चाहते हैं जो जर्जर हो चुकी है। उन मर्यादाओं के बजाय उदार व्यवस्था के औचित्य का काका जैसे पात्र द्वारा निदर्शना करवाना लोकजीवन के लिए बहुत ही प्रासंगिक है। बहुत से पौराणिक विश्वासों की लौकिक व्याख्या उनकी प्रगतिशील लोकचेतना की द्योतक - "आप मुझे शूल विद्ध भी कर दें तो भी मै इस मिथ्याचार का प्रतिवाद करूंगा। पुराण-ऋषियों ने क्या कहा है, मुझे नहीं मालूम, परन्तु सत्य, सत्य है, बलात्कार, बलात्कार। मुझे इतना ही कहना है। आगे आप और राजप्रतिनिधि पुरन्दर जैसा चाहें

---

1. पुनर्नवा - पृ. - 20.

निर्णय दें, परन्तु यदि आप ने इस भित्ति को स्वीकार करके राज चलाया तो सुमेर काका उसका विरोध करेगा ।" [1] इस प्रकार दरेरा देकर कोई बात कहने का साहस काका जैसा लौकिक पात्र ही कर सकता है ।

लोकजीवन में दूसरों की सेवा को सबसे बड़ा तप माना जाता है । पुनर्नवा में अनेक स्थलों पर पर सेवा का माहात्म गाया गया है । काका को स्वप्न में सुनाई पड़ने वाली वाणी उन्हें पर सेवा का ही उद्‌बोधन करती है । "अपनी शान्ति के लिए तपस्या करना सबसे बड़ा स्वार्थ है । वह सबसे बड़ी छलना है । औरों की शान्ति के लिए अशान्त होना ही सच्ची साधना है । ••• मनुष्य के दु:ख से दुखी होना ही सबसे बड़ा सुख है ।" चन्द्रमौलि भी अनुभव करता है कि "सच्चा सुख अपने आप को दलित द्राक्षा की भाँति निचोड़कर उपलब्ध माधुर्य रस को लुटा देने में है ।" मंजुला भी स्वप्न में देवरात को इसी का संदेश देती है - "तुम्हारा स्वभाव देना है, लुटाना है, अपने आप को दलित द्राक्षा की भाँति निचोड़कर महा अज्ञात के चरणों में उँड़ेल देना है ।" सिद्ध बाबा चन्द्रा को पर-सेवा मार्ग अपनाने का ही परामर्श देते है - "अपने लिए बटोरने से ही मनुष्य का जीवन श्मशान बन जाता है । लुटाने की बुद्धि से जो किया जाता है, वह फूल बन जाता है ।" [2]

पुनर्नवा में लोकोक्तियों, लोकगीतों, लोकवचनों, लोक संभाषणों उद्धरण देकर लोकजीवन की भाषिक अभिव्यक्तियों को प्रस्तुत किया गया है । इस प्रकार के प्राय: सभी उद्धरण लोकजीवन से चुने हुए हैं । इनके साथ लोकतत्व परंपरागत ढंग से न जाने कब से जुड़े रहते हैं । लोकजीवन में इनको बहुत ही लोकप्रियता होती है । चुँकि ये लोकमुख की बात होते हैं और लोक की बुद्धि-मत्ता, अनुभूति की गहराई, रसात्मकता, नीतिमत्ता आदि का प्रतिनिधित्व करते है इसलिए ये उद्धरण लोकसंस्कारों, परम्पराओं, व्यवहारों एवं विचारों

1• पुनर्नवा - पृ• - 154.
2• " " 176

को बड़े समर्थ ढंग से व्यक्त करते है । लोक में प्रचलित वाक्यों या शब्दों को प्रस्तुत करने का उद्देश्य लोकसंस्कृति को प्रस्तुत करना ही है । भाषिक लोकाभिव्यक्ति को भी । पुनर्नवा की भाषा लौकिक विचारों को वहन करने वाले प्रतीकों का समुच्चय है । ये प्रतीक लोकजीवन के परम्परागत निवासियों के धार्मिक सामाजिक, जातीय और सांस्कृतिक प्रभावों में विकसित हुए है । जब उपन्यास में उनका प्रयोग होता है तो वे सामान्य रूप से अपने अभिप्रायों के साथ लोक जीवन एवं उसके वातावरण को तो प्रस्तुत करते ही है साथ ही साथ उनके द्वारा लोकजनों के चित्र भाषागत एवं व्यवहारगत संस्कार भी उजागर होते है ।

पुनर्नवा में विभिन्न स्थलों पर लोकजीवन में प्रयुक्त होने वाली गालियों और अभिशापों का भरपूर प्रयोग किया गया है । ऐसे शब्द लोकजीवन में विशिष्ट तथा सामान्य दोनों अर्थों में प्रयुक्त होते है । वास्तव में इन प्रयोगों के द्वारा जहाँ स्थानीयता की सिद्धि होती है वहीं लोक व्यंजना के विविध आयामों का उद्घाटन भी होता है । इस प्रकार के तमाम शब्द पुनर्नवा में प्रयुक्त हुए है जैसे, छैछी, कलमुंही, नपुंसक, लंठ आदि । इन शब्दों से यह पता चलता है कि भाषा के स्तर पर लोकसांस्कृतिक चेतना किस प्रकार निमज्जित रहती है । लोकवार्ता संस्कारों को किस प्रकार रूपायित और नियंत्रित करती है । पुनर्नवा में ये शब्द प्रयोग के स्तर पर अपने विभिन्न सन्दर्भों के साथ अपनी लोकसांस्कृतिक सत्ता का उपभोग करते है । सब कुछ कहने का तात्पर्य यह कि पुनर्नवा की भाषा में लोकरंग की व्यंजना के लिए लोकभाषा के विशिष्ठ शब्दों का प्रयोग किया गया है । ये प्रयोग भाषा के स्तर पर लोक संस्कृति के विशिष्ठ संदर्भ को उद्घाटित करते है । यद्यपि इनका सम्बन्ध लोकभाषा से है फिर भी खड़ी बोली के ढाँचे में ये अपनी लोकसांस्कृतिक सत्ता को नियोजित करते है ।

लोक के यथार्थ चित्रण एवं नवोन्मेष हेतु पुनर्नवा में लौकिक प्रकृति की नवीन चेतना को सजीव ढंग से व्यक्त किया गया है। नवीनता के इस आग्रह में ही आचार्य द्विवेदी का ध्यान नागर-अभिजात्य जीवन से हटकर लोक-जीवन की ओर गया। उपन्यास साहित्य के इतिहास का अध्ययन करते हुए हमें यह ज्ञात होता है कि स्वतन्त्रता के बाद व्यक्तिवादी उपन्यासों का बड़ी तीव्र गति से विकास हुआ। इन व्यक्तिवादी उपन्यासों में ऐसा लगता है कि उपन्यासकार जीवन के लम्बे-चौड़े विस्तार में अपने एकाकी दृष्टिकोण तथा विचार दर्शन को महत्व देने के लिए संकल्पित है। इसके ठीक विपरीत आचार्य द्विवेदी ने पुनर्नवा में व्यक्तिवादी मान्यताओं के स्थान पर समाज के व्यापक लौकिक स्वरूप की सहज और उदात्त झांकी प्रस्तुत करने के प्रति सचेत ही नहीं आग्रहशील है। संकीर्ण मनोवृत्तियों के विपरीत इस उपन्यास में व्यक्ति को छोड़कर लोकांज्वल को महत्ता प्रदान की गई है। इस नाते भी यह महत्वपूर्ण है कि जबतक समाज की समग्रता को लोकतात्विक दृष्टिकोण से चित्रित नहीं किया जाएगा तब तक देश की समग्रता को प्रस्तुत करना संभव भी नहीं हो सकता।

हम यह बात पहले भी कह चुके है कि लोकजीवन की अपनी बोली, अपनी बातें होती है। उसकी अपनी ध्वनि तथा व्यंज्जना होती है। रीति-रिवाज होते है, वेषभूषा होती है। महत्वपूर्ण बात यह कि लोकजीवन में लोगों का इन सारी चीजों के प्रति बहुत लगाव होता है। पुनर्नवा में उनके ये लगाव बड़े सहज ढंग से व्यक्त हुए है। कालक्रम के अनुसार इन तत्वों में परिवर्तन भी होते रहते है। पुनर्नवा के पढ़ने पर ऐसा महसूस होता है कि आचार्य द्विवेदी ने उन लोकवार्ता रूपों को जैसा देखा है वैसा ही वर्णन किया है। ये सारे रूप लोक के जीवित वर्तमान के संस्कार प्रतीत होते है। जो थोड़े बहुत परिवर्तित रूप में आज भी विद्यमान है। इसके सभी पात्र लोक आदर्शों का प्रतिनिधित्व करते हुए उसकी मूल प्रवृत्ति के अनुसार कार्य करते है। लोकजीवन में गहरी

पैठ और उसकी चित्र विधायिनी शक्ति द्वारा आचार्य द्विवेदी पात्रों को लौकिक बनाने में पूर्ण सफल रहे है । उनका निर्माण इस कौशल से किया गया है कि वे समाज के सामने प्रश्न भी खड़ा करते है और अपना सामान्य जीवन भी जीते है ।

इस प्रकार आचार्य द्विवेदी ने पुनर्नवा के रूप में सच्चे अर्थ में लोक-जीवन के महाकाव्य की रचना ही नहीं की बल्कि एक ऐसी चेतना और लौकिक समझ का परिचय दिया जो अन्य उपन्यासकारों से संभव न थी । पुनर्नवा की लौकिक चेतना लोकजीवन के निरीक्षण का परिणाम है, पाठ्यपुस्तकों से उधार ली हुई नहीं । यह उपन्यास जिसमें आम लोगों का गीत, अनगढ़ स्वस्थ हास्य, हार्दिक संवेदनशीलता, सच्च प्रेम, साहस और भक्ति का सामाजिक ढोंग और पाखण्ड से नफरत के साथ समिश्रण है, उत्पीड़न के विरुद्ध लोक के विद्रोह की आत्मा को व्यक्त करता है । पुनर्नवा में हम समस्त भारतीय लोकजीवन से तादात्म अनुभव करते है । इसमें लोकजीवन के हर पहलू को बहुत नजदीक और गहराई से देखा गया है । इसीलिए उसमें लोक चेतना की संवेदनशील, सशक्त और प्रामाणिक अभिव्यक्ति हुई है ।

****

सहायक ग्रन्थों की सूची

पुस्तकें -

1. कु0 पी0 वासवदत्ता — आचार्य ह्जारी प्रसाद द्विवेदी : व्यक्तित्व एवं कृतित्व, युगवाणी प्रकाशन, कानपुर प्रथम संस्करण - 1965.

2. डा0 यदुनाथ चौबे — आचार्य ह्जारी प्रसाद द्विवेदी का समग्र साहित्य : एक अनुशीलन । अनुभव प्रकाशन, 105/727 श्रीनगर, कानपुर, प्रथम संस्करण - 1980.

3. सं0 डॉ0 नारायणदत्त पालीवाल — आचार्य ह्जारी प्रसाद द्विवेदी संगोष्ठी संकलन, हिन्दी अकादमी दिल्ली ; सनलाइट इंश्योरेंस बिल्डिंग ए 26/27 आसफअली रोड, नई दिल्ली-2. प्रथम संस्करण - 1985.

4. संजीव भानावत — आचार्य ह्जारी प्रसाद द्विवेदी के उपन्यासों में सांस्कृतिक बोध, पंचशील प्रकाशन, जयपुर, प्र0सं0 - 1981.

5. बाबूलाल आच्छा — आचार्य ह्जारी प्रसाद द्विवेदी के उपन्यास : इतिहास के दो ललित अध्याय भारतीय शोध प्रकाशन, उदयपुर (राज0) प्रथम संस्करण - 1971.

6. डॉ0 त्रिभुवन सिंह — आचार्य ह्जारी प्रसाद द्विवेदी के उपन्यास विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी प्रथम संस्करण - 1984.

7. सं0 भीष्म साहनी
रामजी मिश्र
भगवती प्रसाद नियारिया
आधुनिक हिन्दी उपन्यास
राजकमल प्रकाशन, 8 नेताजी सुभाष मार्ग ; नई दिल्ली - 2
प्रथम संस्करण - 1979.

8. रैल्फ फॉक्स
उपन्यास और लोकजीवन
पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस
5 रानी झांसी रोड, नई दिल्ली
तृतीय संस्करण - 1980

9. सं0 बादाम सिंह रावत
वेद प्रकाश अमिताभ
उपन्यासकार हजारी प्रसाद द्विवेदी
गिरनार प्रकाशन, मेहसाना
27/2 शिव सोसायटी मेहसाना (उ0प्र0)
प्रथम संस्करण - 1980.

10. डॉ0 नामवर सिंह
दूसरी परम्परा की खोज,
राजकमल प्रकाशन, 8 नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली - 2,
प्रथम संस्करण - 1982.

11. डॉ0 कुबेरनाथ राय
पर्णमुकुट
लोकभारती प्रकाशन
15/ए महात्मा गांधी मार्ग,
इलाहाबाद - 1, प्रथम संस्करण -

12. हजारी प्रसाद द्विवेदी
पुनर्नवा
राजकमल प्रकाशन, 8 नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली - 2,
प्रथम संस्करण - 1973.

13. राजनारायण
पुनर्नवा चेतना एवं शिल्प
विवेक प्रकाशन, दिल्ली - 32,
प्रथम संस्करण - 1976.

14. डॉ0 शान्ति स्वरूप गुप्त
पुनर्नवा समीक्षा
अशोक प्रकाशन, नई सड़क दिल्ली
प्रथम संस्करण - 1977.

15. हजारी प्रसाद द्विवेदी — प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद
हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर
हीरा बाग बम्बई - 8, प्रथम संस्करण

16. डॉ0 राममनोहर लोहिया — नदियाँ साफ करो

17. मनोहरश्याम जोशी — बातों ही बातों में
राजकमल प्रकाशन
8 नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली - 2,
प्रथम संस्करण - 1983.

18. डॉ0 सत्यव्रत सिन्हा — भोजपुरी लोकगाथा
हिन्दुस्तान एकेडमी
उत्तर प्रदेश इलाहाबाद
प्रथम संस्करण - 1957.

19. संकलन एवं सम्पादन
डॉ0 श्याम मनोहर पाण्डेय — लोरिकी
साहित्य भवन प्रा0लि0
जीरो रोड इलाहाबाद
प्रथम संस्करण - 1980.

20. डॉ0 केसरी कुमार — लोरिकायन
लोकरूचि प्रकाशन
राबर्ट्सगंज, मिरजापुर (उ0प्र0)
प्रथम संस्करण - 1980.

21. सं0 डॉ0 रामकुमार गुप्त — साहित्य संगम : आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, मंगल प्रकाशन, जयपुर - 1,
प्रथम संस्करण - 1984.

22. डॉ0 विमल शर्मा — साठोत्तर हिन्दी उपन्यासों में नारी के विविध रूप,
संगम प्रकाशन इलाहाबाद
प्रथम संस्करण - 1982.

23. डॉ0 विवेकी राय — स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कथा साहित्य और ग्राम जीवन, लोकभारती प्रकाशन, 15/ए महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-1, प्रथम संस्करण - 1975.

24. डॉ0 विश्नकुमार शर्मा — ह्जारी प्रसाद द्विवेदी : साहित्य भाषा और शैली ।

25. डॉ0 लक्ष्मीलाल बैरागी — ह्जारी प्रसाद द्विवेदी के कृतित्व का शैली वैज्ञानिक अध्ययन संधी प्रकाशन जयपुर, प्रथम संस्करण-1980.

26. सं0 विश्वनाथ प्रसाद तिवारी — ह्जारी प्रसाद द्विवेदी नेशनल पब्लिशिंग हाउस 23 दरियागंज, नई दिल्ली - 2, प्रथम संस्करण - 1980.

27. डॉ0 मक्खनलाल शर्मा — हिन्दी उपन्यास : सिद्धान्त और समीक्षा प्रभात प्रकाशन दिल्ली प्रथम संस्करण - 1965.

28. डॉ0 रामदरश मिश्र — हिन्दी उपन्यास एक अन्तर्यात्रा राजकमल प्रकाशन 8 नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली प्रथम संस्करण - 1968.

29. डॉ0 सुरेश सिन्हा — हिन्दी उपन्यास लोकभारती प्रकाशन 15/ए महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद द्वितीय संस्करण - 1979.

30. डॉ0 नरेन्द्र भानावत, डॉ0 शान्ता भानावत — हिन्दी साहित्य की प्रमुख कृतियाँ और कृतिकार अनुपम प्रकाशन, जयपुर

31. डॉ0 त्रिभुवन सिंह — हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद
हिन्दी प्रचारक वाराणसी
प्रथम संस्करण -

32. डॉ0 उमा मिश्रा — हजारी प्रसाद द्विवेदी का उपन्यास साहित्य : एक अनुशीलन
अन्नपूर्णा प्रकाशन
127/1100 डब्लू वन साकेत नगर,
कानपुर - 208014.
प्रथम संस्करण - 1983.

33. डॉ0 इन्दिरा जोशी — हिन्दी उपन्यास में लोकतत्व
सरस्वती प्रकाशन
69 नया वैरहना, इलाहाबाद - 3,
प्रथम संस्करण - 1965.

34. डॉ0 सुमित्रा त्यागी — हिन्दी उपन्यास आधुनिक विचारधाराएं
साहित्य प्रकाशन
मालीवाड़ा दिल्ली -
प्रथम संस्करण - 1978.

पत्र-पत्रिकाएं

1. आलोचना — जनवरी - मार्च, 1974.

2. दिनमान — 31 अगस्त, 1969.